हिन्दी-कवितावली

हरदेव बाहरी
बृज लाल

हिन्दी-कवितावली

सम्पादक

मलिक हरदेव बाहरी, एम० ए०

एम० ओ० एल०, शास्त्री.

तथा

ला० बृज लाल, बी० ए०, एल० एल० बी०

प्रकाशक

मैसर्ज़ अत्तरचन्द कपूर एण्ड सन्ज़

पब्लिशर्ज़ ऐंड बुकसेलर्ज़, अनारकली, लाहौर।

१९३७

द्वितीय संस्करण १०००] [मूल्य १।)

Printed by
L. Guran Ditta Kapur
at the
Kapur Art Printing Works,
Abbot Road, Lahore,
and
Published by
R. S. Ram Jawaya Kapur,
Proprietor,
Uttar Chand Kapur & Sons,
Lahore.

प्रस्तावना

प्रतिनिधित्व की दृष्टि से किसी भाषा की कविताओं का चुनाव करना बड़ा कठिन काम है, और हिन्दी के पद्य साहित्य का एक पाठ्य पुस्तक-द्वारा परिचय कराना तो और भी दुसाध्य कार्य है। जहां तक हो सका हम ने "हिन्दी-कवितावली" में प्राचीन और आधुनिक कवियों की अमूल्य रचनाओं का संग्रह करके पुस्तक को आदरणीय बनाने का यत्न किया है। इस कविता संग्रह का विशेष गुण यह भी है कि इस में सब प्रकार की कविताएं इकट्ठी की गई हैं, किन्तु शृंगार रस की रचनाओं को कोई स्थान नहीं दिया गया, क्योंकि इन का न पढ़ना ही विद्यार्थियों के कल्याण की बात है।

कविता में कवि का प्रतिबिम्ब रहता है। इस कारण हम ने प्रत्येक कवि का उस की कृतियों से पहिले परिचय करा दिया है।

पुस्तक के अन्त में प्रत्येक कविता की भूमिका और कठिन शब्दों के अर्थ भी लिख दिये गए हैं।

जिन कवियों और प्रकाशक महाशयों की पुस्तकों से हम ने सहायता ली है, उन के हम बहुत कृतज्ञ हैं।

हरदेव बाहरी
वृज लाल

हिन्दी काव्य का संक्षिप्त इतिहास

वीर गाथा काल

१०५०—१४००

१. कहा जाता है कि हिन्दी काव्य की उत्पत्ति दसवीं शताब्दी में हुई, परन्तु तत्कालीन किसी कवि की रचना आज कल उपलब्ध नहीं है। निस्सन्देह कुछ फुटकर पद्य मिलते हैं, परन्तु उन में अपभ्रंश तथा हिन्दी का ऐसा संमिश्रण है कि ठीक तरह यह कहना कठिन है कि वे किस भाषा के हैं। ऐतिहासिकों के मतानुसार चन्द बरदई हिन्दी के प्रथम कवि थे। यह सम्राट् पृथ्वीराज के समय तेरहवीं शताब्दी में हुए। वह युग भीषण हलचल और राजनीतिक अशान्ति का युग था। इस काल में कविगण अपने आश्रयदाता राजाओं के पौरुष और देश-प्रेम की गाथा गाने की ओर अधिक ध्यान देते थे। यह हिन्दी साहित्य का वीरगाथा काल या बाल्यकाल कहा जाता है। इस समय की कविता कठिन होने के कारण इस संग्रह में नहीं दी गई। इस काल का सर्वोत्कृष्ट काव्य 'पृथ्वीराज रासो' है। इस में सम्राट् पृथ्वीराज का जन्म से लेकर मरण पर्यन्त वृत्तान्त लिखा है। रासो

की ऐतिहासिक घटनाएँ बहुधा असत्य हैं, भाषा भी अपभ्रंश-मिश्रित तथा जटिल है; पर रचना प्रौढ़ है और वीर रस का अच्छा परिपाक है। इस समय अन्य कई भाट कवि हुए हैं। यही समय अमीर खुसरो का भी है, परन्तु वह वीर कवि न थे। उन की केवल पहेलियां और मुकरानियां प्रसिद्ध हैं।

भक्ति काल

१४००—१७००

२. राजाओं के यशोगान करने वाले कवियों की शृङ्खला विद्यापति ठाकुर के साथ समाप्त हो जाती है। इस के बाद हिन्दी काव्य में धार्मिक आन्दोलन की गूंज सुनाई देती है। इस समय कबीर, नानक, सुन्दर आदि सन्त कवियों ने हिन्दू और मुसलमानों के भेद-भाव को मिटा कर, सदाचार-पूर्ण जीवन व्यतीत करने का उपदेश किया। उन्हों ने निराकार ब्रह्म की उपासना, एकेश्वरवाद तथा भक्तिद्वारा मुक्ति प्राप्त करने का प्रचार किया। इस में सन्देह नहीं कि सन्त कवियों की भाषा इतनी प्राञ्जल नहीं और न ही इन की कविता अधिक सरस और व्यापक है, तथापि इन के उपदेशों में अन्तरर्वेदना, प्रभावोत्पादकता और सरलता अवश्य है।

३. सन्त कवियों का प्रचार अधिक देर तक न रह सका। मुसलमानों के प्रभाव से पौराणिक धर्म को बचाने के लिए साकार ब्रह्म की उपासना का प्रचार बढ़ने लगा। इस समय हिन्दी के अमर कवि भक्त सूरदास हुए। इन्हों ने अपनी सरस कविता द्वारा शृङ्गार और वात्सल्य का ऐसा स्रोत बहाया कि जिस के प्रवाह से आज तक भी ब्रज भाषा के कवि न बच सके। इन में गंभीरता का अभाव है, पर सरलता तथा ऐन्द्रियता में सूरदास महात्मा तुलसी दास से भी बाज़ी ले गए हैं। रसखान इन्हीं के अनुयायी थे।

४. महाकवि तुलसीदास ने भक्तिरस के परवाह को कृष्ण की ओर से हटा कर रामचन्द्र जी की ओर लगाया। साथ ही ब्रज भाषा के स्थान पर अवधी भाषा का प्रयोग किया। हिन्दी साहित्य में गोस्वामी तुलसी दास का स्थान बहुत ऊंचा है। इन का 'रामचरित मानस' हमारे साहित्य का सर्वोत्कृष्ट रत्न है।

५. सूर और तुलसी का यह काल हिन्दी का प्रौढ़ काल है। इस समय हिन्दी काव्य की जितनी उन्नति हुई उतनी और किसी समय नहीं हुई। यही समय रहीम और गंग इत्यादि

महा कवियों का है। रहीम की कविता अधिकतर नीति की है।

रीति काल

१७००--१८५०

६. अब तक सूर, तुलसी आदि कवियों ने भक्तिरस में आप्लावित हो कर कविता की। उन की कविता स्वाभाविक थी, पर अब भाषा की सजावट पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। सूर और तुलसी के भक्तिरस आश्रित शृङ्गार के स्थान पर लौकिक शृङ्गार को प्रधानता प्राप्त होने लगी। शृङ्गार रस को अधिक रोचक बनाने के लिए रीति कवियों ने अपनी रचनाओं में मुख्यतया व्रजभाषा का प्रयोग किया। इन्हों ने कहीं कहीं अवधी और फारसी का भी सहारा लिया। इन कवियों में केशवदास, पद्माकर, देव और बिहारी इत्यादि हुए हैं।

इस शृङ्गारी काल में भूषण का बिलकुल अलग स्थान है।

आधुनिक काल

१८५०--अब तक

७. हिन्दी की शृङ्गारिक कविता के विरुद्ध भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने आन्दोलन उठाया और नवयुग के कवियों के लिए नया मार्ग खोला। उन्हें आधुनिक हिन्दी साहित्य का जन्म-दाता कहना

उचित होगा। नायक नायका के पारस्परिक प्रेमालाप और उन की क्रीड़ाओं के वर्णन को छोड़ कर उन्हों ने सामयिक विषयों की ओर ध्यान दिया; देश और जाति के सुधार के लिए लिखना शुरू किया। नये भावों को प्रकट करने के लिये नये शब्दों और नई शैली की आवश्यकता पड़ी; सो ब्रज भाषा के स्थान पर खड़ी बोली का प्रादुर्भाव हुआ। नवीन छन्दों का आविष्कार हुआ और दोहा, चौपाई, सवैया इत्यादि पुराने छन्दों का प्रयोग रह गया। श्रीधर पाठक और द्विवेदी जी ने खड़ी बोली की कर्कशता दूर कर के उसे काव्योपयुक्त बनाने की चेष्टा की। आधुनिक कवियों में प्रताप नारायण मिश्र, नाथूराम शंकर शर्मा, अयोध्यासिंह उपाध्याय, बा० मैथिलीशरण गुप्त, राम नरेश त्रिपाठी आदि मुख्य हैं। उर्दू मिश्रित हिन्दी भाषा में कविता करने वालों के नेता पं० गयाप्रसाद शुक्ल तथा लाला भगवानदीन हैं। दोनों की रचनाओं में राष्ट्रीयता का फड़कता हुआ चित्रण है। प्रकृति-सौंदर्य के उपासकों में से पं० रामचन्द्र शुक्ल का नाम उल्लेखनीय है।

८. कुछ काल से हिन्दी में रहस्यवाद (Mysticism) अथवा छायावाद की कविता भी होने लगी है। इस विषय में

बाबू जयशंकर प्रसाद और पं० सुर्यकान्त त्रिपाठी अल्लेख योग्य हैं। छायावादी कवि छन्दों के बन्धन को सर्वथा छोड़ रहे हैं। उन का कथन है कि तुक और मात्राओं के बन्धन में हार्दिक भावों का प्रदर्शन भली भान्ति नहीं हो सकता।

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी काव्य दिन प्रति दिन उन्नति की ओर बढ़ने लगा है। हिन्दी प्रेमियों को इस में पूर्ण सहयोग देना चाहिये।

डी० ए० वी० कालेज
रावलपिण्डी,
३०—६—२६

हरदेव बाहरी

विषय-सूची

पहिला भाग

प्राचीन कवि

पृष्ठ

दूसरा भाग

आधुनिक कवि

पृष्ठ

पृष्ठ

हिन्दी-कवितावली

प्रथम भाग

कबीर

[संवत् १४५५—१५७५]

कहा जाता है कि काशी में एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से कबीरदास जी का जन्म हुआ था। लोकापवाद के डर से उस ने उन्हें एक तालाब में बहा दिया। संयोगवश नीरू नाम के जुलाहे ने उस नवजात बालक को उठा लिया और उस ने और उस की स्त्री नीमा ने उस का पालन-पोषण किया। पले तो जुलाहे के घर में, पर भक्ति इन की 'राम नाम' पर हो गई। कुछ काल में यह हिन्दु और मुसलमानों में समान रूप से मान्य हो गये। दोनों मतों की बुराइयों का इन्हों ने खूब खंडन किया। कबीर साहिब बड़े ही सुशील और सदाचारी थे। वह परम भगवद्भक्त, महात्मा, उच्चकवि और समाज-सुधारक थे। उन्हों ने स्वयं कोई पुस्तक नहीं लिखी। वे साखी (दोहे) और भजन बनाकर कहा करते थे और उन के चेले कण्ठस्थ कर लेते थे। इन का संग्रह पीछे से किया गया है। कबीर साहिब के २१ ग्रंथों का पता चलता है, जिन में 'बीजक' मुख्य है। कबीर-पंथियों में बीजक का बड़ा आदर है।

कबीर जी की कविता में बड़ी शिक्षा भरी है। एक एक पद से उन की सत्य-निष्ठा प्रकट होती है। उन्हों ने जो कहा है, प्रायः सभी एक से एक बढ़कर है। बातें तो छोटी सी हैं, परन्तु उनमें अगाध ज्ञान भरा हुआ है। इन के भजनों का आज भी घर-घर प्रचार है।

साखियां

आदि नाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया छूटा बंधन मोह ॥ १ ॥
सुख के माथ सिल परै (जो) नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुक्ख की, पल पल नाम रटाय ॥ २ ॥
लेने को हरि नाम है, देने को अन्नदान।
तरने को आधीनता, बूड़न को अभिमान ॥ ३ ॥
दुख में सुमिरन सब करैं, सुख में करे न कोय।
जो सुख में सुमिरन करे, तो दुख काहे को होय ॥४॥
सुमिरन की सुधि यों करै, जैसे दाम कंगाल।
कहै कबीर बिसरै नहीं, पल पल लेइ सम्हाल ॥ ५ ॥
माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवां तो दहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥६॥
कबिरा गरब न कीजिए, काल गहे कर केस।
ना जाने कित मारिहै, क्या घर क्या परदेस ॥ ७ ॥
कुसल कुसल ही पूछते, जग में रहा न कोय।
जरा मुई न भय मुवा, कुसल कहां से होय ॥८॥
माटी कहै कुम्हार से, तू क्या रूंदै मोहिं।
इक दिन ऐसा होयगा, मैं रूँदूंगी तोहिं ॥ ९ ॥

आये हैं सो जायँगे, राजा रंक फकीर।
एक सिंघासन चढ़ि चले, एक बन्धे जंजीर ॥ १० ॥

इक दिन ऐसा होयगा, कोउ काहू का नाहिं।
घर की नारी को कहै, तन की नारी जाहिं ॥११॥

माली आवत देखि के, कलियाँ करी पुकार।
फूली-फूली चुनि लईं, कालि हमारी बार ॥१२॥

कबिरा हँसना दूर करु, रोने से करु चीत।
बिन रोये क्यों पाईये, प्रेम-पियारा मीत ॥ १३ ॥

जाहु वैद घर आपने, तेरा किया न होय।
जिन या वेदन निर्मई, भला करैगा सोय ॥ १४ ॥

सीस उतारे भुईं धरे, तापर राखे पांव।
दास कबीरा यों कहै, ऐसा होय तो आव ॥१५॥

प्रेम-गली अति सांकरी, तामें दो न समाहिं।
जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं मैं नाहिं ॥१६॥

जा घट प्रेम न संचरे, सो घर जान समान।
जैसे खाल लुहार की, सांस लेत बिन प्रान ॥१७॥

पीया चाहे प्रेम-रस, राखा चाहे मान।
एक म्यान में दो खड्ग, देखा सुना न कान ॥१८॥

साईं पता दीजिये, जामें कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय ॥१९॥

सिहों के लेहँड़े नहीं, हँसों की नहिं पांत।
लालों की नहिं बोरियां, साधु न चलें जमात ॥ २० ॥

गांठी दाम न बांधई, नहिं नारी सों नेह।
कह कबीर ता साधु के चरनन की हम खेह ॥ २१ ॥

कबिरा संगति साधु की, हरे और की व्याधि।
संगति बुरी असाधु की, आठों पहर उपाधि ॥ २२ ॥

कबिरा संगति साधु की, ज्यों गंधी का बास।
जो कछु गंधी दे नहीं, तो भी बास सुबास ॥ २३ ॥

द्वार धनी के पड़ि रहै, धका धनी का खाय।
कबहुँक धनी निवाजई, जो दर छांड़ि न जाय ॥ २४ ॥

सिर राखे सिर जात है, सिर काटे सिर सोय।
जैसे बाती दीप की कटि उजियारा होय ॥ २५ ॥

सूरा नाम धराइ कै, अब का डरपै बीर।
मँडि रहना मैदान में, सनमुख सहना तीर ॥ २६ ॥

पतिवरता पति कों भजे, और न आन सुहाय।
सिंह-बचा जो लंघना, तो भी घास न खाय ॥ २७ ॥

लाली मेरे लाल की, जित देखों तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल ॥ २८ ॥

जो तोको कांटा बुवै ताहि बोव तू फूल।
ताहि फूल को फूल है, वाको है तिरसूल ॥ २९ ॥

दुर्बल को न सताईये, जाकी मोटी हाय।
बिना जीव की सांस से, लोह भस्म है जाय ॥ ३० ॥
ऐसी बानी बोलिए, मनका आपा खोय।
औरन को सीतल करे, आपहु सीतल होय ॥ ३१ ॥
आवत गारी एक है, उलटत होत अनेक।
कह कबीर नहीं उलटिये, वही एक की एक ॥ ३२ ॥
साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गही रहे, थोथा देइ उड़ाय ॥ ३३ ॥
साधु भया तो क्या भया, बोले नाहिं विचारि।
हते पराई आतमा, जीभ बाँधि तरवारि ॥ ३४ ॥
मधुर वचन है औषधी, कटुक वचन है तीर।
स्रवन-द्वार है संचरै, सालै सकल शरीर ॥ ३५ ॥
पढ़ना गुनना चातुरी, यह तो बात सहल्ल।
काम-दहन, मन बसकरन, गगन चढ़न मुसकल्ल ॥ ३६ ॥
हीरा तहां न खोलिये, जहँ खोटी है हाट।
कस करि बाँधो गाठरी, उठ करि चालो बाट ॥ ३७ ॥
हीरा पाया परखि के, घन में दीया आनि।
चोट सही फूटा नहीं, तब पाई पहिचानि ॥ ३८ ॥
हंसा बगुला एक सा, मानसरोवर माहिं।
बगा ढंढोरै माछरी, हंसा मोती खाहिं ॥ ३९ ॥
या दुनिया में आई के, छांड़ि देइ तू ऐंठ।

लेना होय सो लेइ ले, उठी जात है पैंठ ॥ ४० ॥
हरि जन तो हारा भला, जीतन दे संसार।
हारा सत गुरु से मिले, जीता जम की लार ॥ ४१ ॥
मांगन मरन समान है, मत कोई मांगो भीख।
मांगन ते मरना भला, यह सतगुरु की सीख ॥ ४२ ॥
सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे सांच है ताके हिरदे आप ॥ ४३ ॥
सांचे स्राप न लागई, सांचे काल न खाय।
सांचे को सांचा मिलै, सांचे माहिं समाय ॥ ४४ ॥
सांचे कोई न पतीजई, झूठे जग पतियाय।
गली गली गोरस फिरे, मदिरा बैठि बिकाय ॥ ४५ ॥
लेखा देना सहज है, जो दिल सांचा होय।
साईं के दरबार में पला न पकरै कोय ॥ ४६ ॥
देह धरे का गुन यही, देह देह कछु देह।
बहुरि न देही पाइये, अब की देउ सो देह ॥ ४७ ॥
सीलवंत सब तें बड़ा, सर्व रतन की खानि।
तीन लोक की संपदा, रही सील में आनि ॥ ४८ ॥
चाह गई, चिंता मिटी, मनुआं बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए, सोई साहंसाह ॥ ४९ ॥
बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर ॥ ५० ॥

कबिरा जोगी जगतगुरु, तजै जगत की आस।
जो जग की आसा करै, तो जगत गुरू वह दास ॥ ५१ ॥

चलौ चलौ सब कोई कहै, पहुँचै विरला कोय।
एक कनक अरु कामिनी, दुरगम घाटी दोय ॥ ५२ ॥

निंदक नियरे राखिये, आंगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना निर्मल करै सुभाय ॥ ५३ ॥

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना मुझ सा बुरा न कोय ॥ ५४ ॥

बड़ा बड़ाई ना तजै, छोटा बहु इतराय।
ज्यों प्यादा फरजी भया, टेढ़ा टेढ़ा जाय * ॥ ५५ ॥

मन के मते न चालिये, मन के मते अनेक।
जो मन पर असवार है, सो साधू कोई एक ॥ ५६ ॥

मन के मारे बन गये, बन तजि बस्ती माहिं।
कह कबीर क्या कीजिए, यह मन ठहरै नाहिं ॥ ५७ ॥

कबिरा सोया क्या करै, जागन की करु चौंप।
ए दम हीरा लाल हैं, गिनि-गिनि हरि को सौंप ॥ ५८ ॥

हिन्दू के दाया नहीं, मिहर तुरुक के नाहिं।
कह कबीर दोनों गये, लख चौरासी माहिं ॥ ५९ ॥

---

* शतरंज के खेल में जब प्यादा वजीर बन जाता है, तब वह टेढ़ा टेढ़ा चल सकता है।

कबीर मतवाला नाम का, मद मतवाला नाहिं।
नाम-पियाला जो पिये, सो मतवाला नाहिं ॥ ६० ॥
रूखा-सूखा खाइ कै ठंडा पानी पीव।
देखि विरानी चूपड़ी, मत ललचावे जीव ॥ ६१ ॥
संस्किरत है कूप-जल, भाषा बहता नीर।
भाषा सतगुरु सहित है, सत मत गहिर गँभीर ॥ ६२ ॥
पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय।
ढाई अच्छर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय ॥ ६३ ॥
एके साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।
जो गहि सेवै मूल को, फूले फले अघाय ॥ ६४ ॥
सपने में साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आंख न खोलूं डरपता, मति सुपना है जाय ॥ ६५ ॥
सांझ पड़े दिन बीतवै, चकवी दीन्हा रोय।
चल चकवा वा देशकों जहां रैन ना होय ॥ ६६ ॥

—:o:—

शब्द

रामु सिमरु पछुताहिगा ।

पापी जीअरा लोभु करत है आजु कालि उठि जाहिगा ॥

लालच लागे जनमु गवाइया माइआ भरम भुलाहिगा ।

धन जोबन का गरबु न कीजै कागद जिउ गलि जाहिगा ॥

जउ जमु आइ केश गहि पटकै ता दिन कछु न बसाहिगा ।

सिमरन भजन दइआ नहीं कीनी तउ मुखि चोटा खाहिगा ॥

धरमराइ जब लेखा मांगै किआ मुख लै कै जाहिगा ।

कहतु कबीर सुनहु रे संतहु साध संगति तर जाहिगा ॥

जेते जतन करत ते डूबे भवसागर नहीं तारयो रे ।

करम धरम करतो बहु संजम अहं बुधि मनु जारयो रे ॥

सास ग्रास को दातो ठाकुरु सो किउं मनहु बिसारयो रे ।

हीरालाल अमोल जनमु है कउडी बदलै हारयो रे ॥

त्रिशना त्रिषा भूख भ्रमि लागी हिरदै नाहि बीचारयो रे ।

उनमत मान हरयो मन माहिं गुरु का शबदु न धारयो रे ॥

सुआद लुभत इन्द्री रस प्रेरिओ मदरस लैत बिकारयो रे ।

करम भाग संतन संगाने काष्ट लोह उधारयो रे ॥

धावत जोनि जनम भ्रमि थाके अब दुख करि हम हारयो रे ।

कहि कबीर गुर मिलत महारस प्रेमभगति निसतारयो रे ॥

देखो भाई ज्ञान की आई आंधी।
सभै उड़ानी भ्रम की टाटी रहै न माया बांधी ॥ १ ॥
दुचिते की दुई थूनि गिरानी मोह वलेडा टूटा।
तिशना छानि परी घर उपरि दुरमति भांडा फूटा ॥ २ ॥
आँधी पाछे जो जलु बरखा तिहि तेरा जनु भीना।
कह कबीर मनि भया प्रगासा उदै भान जब चीना ॥ ३ ॥

मन फूला फूला फिरे जगत में कैसा नाता रे ॥टेक॥
माता कहै यह पुत्र हमारा बहिन कहै बिर मेरा।
भाई कहै यह भुजा हमारी नारि कहै नर मेरा ॥
पेट पकरि के माता रोवै बाँह पकरि के भाई।
लपटि झपटि के तिरिया रोवै हंस अकेला जाई ॥
जब लगि माता जीवै रोवै बहिन रोवै दस मासा।
तेरह दिन तक तिरिया रोवै फेर करै घर वासा ॥
चार गजी चरगजी मँगाया चढ़ा काठ की घोड़ी।
चारों कोने आग लगाया फूंक दिया जस होरी ॥
हाड़ जरै जस लाह कड़ी को केस जरै जस घासा।
सोना ऐसी काया जरि गई कोई न आयो पासा ॥
घर की तिरिया देखन लागी ढूँढि फिरी चहुँ देसा।
कहै कबीर सुनो भाई साधो छाड़ो जग की आसा॥

सूरदास

[संवत् १५४०—१६२०]

सूरदास जी हिन्दी साहित्य के वाल्मीकि कहे जाते हैं। भक्तमाल में लिखा है कि सूरदास जन्म के अन्धे थे; परन्तु इस पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता; क्योंकि इन्होंने अपनी कविता में रंगों का, ज्योति का और अनेक प्रकार के हाव भाव का ऐसा यथार्थ वर्णन किया है जो बिना आंख से देखे, केवल सुनकर, नहीं किया जा सकता। अस्तु, यह जन्मान्ध नहीं थे पीछे अंधे हो गये थे।

सूरदास काव्य-शास्त्र के पण्डित थे। अपने गुरु महाप्रभु वल्लभाचार्य जी की आज्ञा से इन्होंने श्रीमद्भागवत का उल्था किया, जो सूरसागर नाम से प्रसिद्ध है। इस में सवा लाख पद थे, पर मिलते हैं केवल पांच हजार के लगभग। राम-चरित्र लिखने में जैसी प्रतिभा तुलसीदास ने दिखाई है, इसी तरह श्री कृष्ण की लीला लिखकर सूरदास ने भी अपनी अनुपम कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है। इनकी कविता प्रेम और भक्ति रस से सनी हुई है। उपमायें अनूठी और भाव-गांभीर्य अथाह है।

पदावली

चरन कमल बंदौं हरिराई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे कूं सब कछु दरसाई ॥
बहिरो सुनै मूक पुनि बोले रंक चले सिर छत्र धराई ।
सूरदास स्वामी करुनामय बार बार बंदौ तेहि पाई ॥

———

भगति बिन सूकर कूकर जैसे ।
बिग बगुला अरु गीध घुघुआ आय जनम लियो तैसे ॥
ज्यौं लोमरी बिलाव भुजंगम रहत कंदरनि वैसे ।
तकैं न अवधि, न सुत दारा वे, उन्हैं भेद कहो कैसे ॥
जीव मारि कै उदर भरत हैं रहत असुद्ध अनैसे ।
'सूरदास' भगवंत भजन बिनु जैसे ऊंट, खर, भैंसे ॥

———

सबै दिन गये बिषय के हेतु ।
देखत ही आपुन पौ खोयो केस भये सब सेत ॥
रूंध्यो स्वांस मुख बैन न आवत चंद्रा लगी सँकेत ।
तजि गंगोदक पियै कूप जल पूजत गाड़े प्रेत ॥
करि प्रमाद गोविन्द बिसारे बूड़्यो सबनि समेत ।
'सूरदास' कछु खरचु न लागतु कृस्न सुमरि किन लेत ॥

———

चन्द खिलौना लैहौं मैया मेरी, चंद खिलौना लैहौं।
धौरी को पय पान न करिहौं, बेनी सिर न गुथैहौं॥
मोतिन माल न धरिहौं उर पर, तेरी गोद न पैहौं।
लाल कहैहौं नंद बबा को, तेरो सुत न कहैहौं॥
कान लाय कछु कहति जसोदा, दाउहिं नाहिं सुनैहौं।
चंदा हू ते अति सुन्दर तोहिं, नवल दुलहिया ब्यैहौं॥
तेरी सौंह मेरी सुन मैया, अबही ब्याहन जैहौं।
सूरदास सब सखी बराती, नूतन मंगल गैहौं॥

———

मैया, मोहिं दाऊ बहुत खिजायो।
मोसों कहत, मोल को लीनो, तू जसुमति कब जायो॥
कहा करौं यहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जातु।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तुमरो तातु॥
गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर॥
तू मोही को मारन सीखी, दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति सुनि सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह, बलभद्र चबाई, जनमत हीं को धूत।
सूरस्याम मो गोधन की सौं, हौं मैया तू पूत॥

———

मैया मेरी, मैं माखन नहिं खायो।
भोर भये गैयन के पाछे मधुवन मोहि पठायो॥
चार पहर बंसीवट भटक्यो, साँझ परे घर आयो।
मैं बालक बहियन को छोटो, छींको किहि विधि पायो॥
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो॥
तू जननी मति की अति भोरी, इनके कहे पतियायो॥
जिय तेरे कछु भेद उपज है, जानि पराया जायो॥
यह ले अपनी लकुट कमरिया, बहुतहि नाच नचायो।
सूरदास तब विहँसि जसोदा, लै उर कंठ लगायो॥

खेलन अब मेरी जात बलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरिकन संग, तबहिं खिझत बल भैया॥
मोसों कहत तात बसुदेव को, देवकी तेरी मैया।
मोल लिया कछु दे बसुदेव को, करि करि जतन बटैया॥
अब 'बाबा' कहि कहत नंद कों, जसुमति कों कहे 'मैया'।
ऐसेहि कहि सब मोहि खिझावत, तब उठि चल्यो खिसैया॥
पाछे नंद सुनत हैं ठाढ़े, हँसत-हँसत उर लैया।
सूर नंद बल रामहिं धिरयो, सुनि मन हर्ष कन्हैया॥

आज मैं गाइ चरावन जैहौं।
वृन्दावन के भांति-भांति फल, अपने कर मैं खैहौं।

ऐसी अबहिं कहौ जनि बारे, देखौ अपनी भांति ।
तनिक तनिक पग चलिहौ कैसे, आवत ह्वैहै राति ॥
प्रात जात गैयां लै चारन, घर आवत है सांझ ।
तुम्हरो कमल-बदन कुम्हिलैहै रेंगत घामहिं मांझ ॥
तेरी सौं मोहिं घाम न लागत, भूख नहीं कछु नेक ।
सूरदास प्रभु कह्यो न मानत परे आपनी टेक ॥

———

जसुमति दौरि लये हरि कनियां ।
आज गयो मेरो गाइ चरावन, हौं बलि गई निछुनियां ॥
मो कारन कछु आन्यौ है बलि, बनफल तोरि कन्हैया ।
तुमहिं मिले हौं अति सुख पायो मेरो कुँवर कन्हैया ॥
कछुक खाहु जो भावै मोहन, 'देरी माखन-रोटी' ।
सूरदास प्रभु जीवहु जुग-जुग, हरि-हलधर की जोटी ॥

———

नैन सलोने श्याम, हरि कब आवहिंगे ।
वे जो देखत राते राते फूलन फूले डार ।
हरि बिन फूल झरी सी लागत झरिझरि परत अँगार ॥
फूल बिनन न जाऊं सखीरी, हरि बिन कैसे फूल ।
सुनरी सखी मोहिं राम दुहाई लागत फूल त्रिशूल ॥
जब तें पनिघट जाऊं सखीरी वा जमुना के तीर ।
भर भर जमुना उमड़ि चलत है इन नैनन के नीर ॥

इन नैनन के नीर सखीरी सेज भई घरनाव।
चाहत हौं वाही पै चढ़ि कै हरि जी के ढिग जांव॥
लाल पियारे प्राण हमारे रहे अधर पर आय।
"सूरदास" प्रभु कुञ्जविहारी मिलत नहीं क्यों धाय॥

प्रभु मेरे औगुन चित्त न धरो।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो अपने पनहि करो॥
इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो।
यह दुविधा पारस नहिं जानत कंचन करत खरो॥
इक नदिया इक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब मिलिकै दोउ एक बरन भए सुरसरि नाम परो॥
एक जीव इक ब्रह्म कहावत 'सूरस्याम' झगरो।
अबकी बेर मोहिं पार उतारो नहिं पन जात टरो॥

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं॥
घर के कहैं बेग ही काढ़ो भूत भये कोउ खैहैं।
जा प्रीतम से प्रीति घनेरी सोऊ देखि डरैहैं॥

कहँ वह ताज कहाँ वह सोभा देखत धूर उड़ैहैं।
भाई बन्धु कुटुम्ब कबीला सुमिरि सुमिरि पछतैहैं॥
बिन गोपाल कोऊ नहिं अपना जस कीरति रहि जैहैं।
सो तो "सूर" दुर्लभ देवन को सतसंगति में पैहैं॥

तुलसी दास

[संवत् १५८९ — १६८९]

गुसाईं जी अनन्य रामभक्त, परम वैष्णव, अभूतपूर्व महाकवि और महापुरुष थे। इन्हों नें १४ ग्रन्थ लिखे, जिन में रामचरितमानस, गीतावली, कवितावली, और दोहावली, सुप्रसिद्ध हैं। तुलसीदास जी की ख्याति मुख्यतया 'रामायण' के कारण ही है। भारत में अब तक इसकी करोड़ों प्रतियां छप चुकी हैं। तुलसी रामायण के समान भारत में और किसी ग्रन्थ का प्रचार नहीं है। अब तो यूरुप की अनेक भाषाओं में इस का अनुवाद छप गया है। इन की रचना अजर अमर है। हिन्दी साहित्य की तो वह जीवात्मा है। इन की सरस मर्म-स्पर्शिनी कविता को देखकर हठात् कहा जाता है कि 'न भूतो न भविष्यति'। काव्य का ईश्वरवाद जितना उच्च है, उतनी ही उच्च उस की नीति है। आदि से अन्त तक उस में एक भी शब्द या विचार ऐसा नहीं पाया जाता, जो निर्मल न हो। पद पद में शिक्षा भरी पड़ी है।

गुसाईं जी अधिकतर काशी और अयोध्या में रहा करते थे॥

लंका-दहन

कवित्त

लाइ-लाइ आगि भागे बाल-जाल जहां तहां,
लघु ह्वै नबुकि गिरिमेरु में विलास भो।
कौतुकी कपीस कूदि कनक कँगूरा चढ़ि,
रावन भवन जाइ ठाढ़ो तेहि काल भो॥
तुलसी विराज्यो व्योम बालधी पसारि भारी
देखे हहरात भट काल तें कराल भो।
तेज को निधान मानों कोटिक कृसान भानु,
नख विकराल, मुख तैसो रिस-लाल भो॥१॥

बालधी विसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानों,
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं व्योम-बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
वीर रस वीर तरवारि सी उघारी है॥
तुलसी सुरेस-चाप, कैधौं दामिनी-कलाप,
कैधौं चली मेरुतें कृसानु-सरि भारी है।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं,
"कानन उजार्‌यो, अब नगर प्रजारी है" ॥२॥

जहां तहां बुबुक बिलोकि बुबुकारी देत,
"जरत निकेत धाओ धाओ लागि आगि रे" ।
कहां तात, मात, भ्रात, भगिनी, ओ भामिनी, वे,
छोटे छोटे छोहरा अभागे भोरे भागिरे ॥
हाथी छोरो, घोरा छोरो, महिष वृषभ छोरो,
छेरी छोरो, सोवै सो जगावो जागि जागि रे" ॥
तुलसी बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं,
"बार बार कह्यो, पिय कपि सों न लागि रे ॥३॥

धक्रो विकराल वेष देखि, सुनि सिंह-नाद,
उठ्यो मेघनाद सविषाद कहै रावनो ।
वेग जीत्यो मारुत प्रताप मारतंड कोटि,
कालऊ करालता बड़ाई जीतो बावनो ॥
तुलसी सयाने जातुधान पछिताने मन,
"जाको ऐसो दूत सो साहिब अबै आवनो ।"
काहे की कुसल रोषे राम वामदेव हू के,
विषम बली सों बादि बैर को बढ़ावनो ॥४॥

'पानी पानी पानी' सब रानी अकुलानी कहैं,
जाति हैं परानी, गति जानि गज चालि है ।

वसन बिसारैं, मनि भूषन सँभारत न,
आनन सुखाने कहैं "क्यों हू कोऊ पालिहै ?"
तुलसी वै मँद मींजि हाथ धुनि माथ कहै,
"काहू कान कियो न मैं कह्यो केतो कालि है।"
बापुरो बिभीषन पुकारि बार बार कह्यो,
"बानर बड़ी बलाइ घने घर घालि है" ॥५॥

———

रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाहिं,
सकैं न बिलोकि वेष केसरी-कुमार को।
मींजि मींजि हाथ धुनैं माथ दससीस तिय,
तुलसी तिलौ न भयो बाहिर अगार को॥
सब असबाब डाढ़ो, मैं न काढ़ो, तैं न काढ़ो,
जिय की परी सँभार, सहन भँडार को।
खीझति मँदोवै सबिषाद देखि मेघनाद,
"बयो लुनियतु सब याही दाढ़ीजार को" ॥६॥

———

एक करै धौज, एक कहै काढ़ो सौंज,
एक औंजि पानी पी के कहै, 'बनत न आवनो'।
एक परे गाढ़े, एक डाढ़त ही काढ़े, एक,
देखत हैं ठाढ़े कहैं 'पावक भयावनो'॥

तुलसी कहत एक "नीके हाथ लाए कपि,
अजहूँ न छाँडै बाल गाल को बजावनो,
"धाओ रे, बुझाओ रे, कि बावरे हौ रावरे, या
औरै आगि लागी न बुझावै सिंधु सावनो" ॥ ७ ॥

हाट बाट हाटक पिघिलि चले घी सो घनो,
कनक-कराही लंक तलफति ताय सों।
नाना पकवान जातुधान बलवान सब,
पागि-पागि ढेरी कीन्ही भली भांति भाय सों॥
पाहुने कृसानु पवमान सों परोसो
हनुमान सनमानि कै जेंवाये चित चाय सों।
तुलसी निहारि अरि नारि दै दै गारि कहैं,
"बावरे, सुरारि बैर कीन्हों राम राय सों" ॥८॥

रावन सो राज रोग बाढ़त बिराट-उर,
दिन दिन बिकल सकल सुखरांक सो।
नाना उपचारि करि हारे सुर सिद्ध मुनि,
होत न बिसोक ओत पावै न मनाक सो॥

राम की रजाय तें रसायनी समीर-सूनु,
उतरि पयोधि-पार सोधि सरवाक सो।
जातुधान बुट, पुटपाक लंक जातरूप,
रतन-जतन जारि कियो है मृगांक सो ॥ ६ ॥
(कवितावली)

———

दोहे

तात तीनि अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि विज्ञान धाम मन करहिं निमिष महुं छोभ ॥ १ ॥

जाइ निकट पहचानि तरु छाँह समनि सब सोच।
मांगत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच ॥ २ ॥

अनुचित उचित विचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन ॥ ३ ॥

सोचिय गृही जो मोहबस करइ करम पथ त्याग।
सोचिय जति प्रपंचरत विगत विवेक विराग ॥ ४ ॥

मातु-पिता-गुरु-स्वामि-सिख सिर धरि करहिं सुभाय।
लहेउ लाभ तिन्ह जनम कर न तरु जनम जग जाय ॥ ५ ॥

सहज सुहृद गुरु-स्वामि-सिख जो न करइ सिर मानि।
सो पछ्तिाइ अघाइ उर अवसि होइ हितहानि ॥ ६ ॥

काह न पावक जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करइ अबला प्रबल, केहि जग काल न खाइ ॥ ७ ॥

सूर समर करनी करहिं कहि न जनावहिं आपु।
विद्यमान रिपु पाइ रन कायर करहिं प्रलापु ॥ ८ ॥

स्वामी होनो सहज है, दुर्लभ होनो दास।
गाडर लाये ऊन को, लागी चरन कपास ॥ ९ ॥

ऊँची जाति पपीहरा, पियत न नीचो नीर।
कै जाँचै घन स्याम सों, कै दुख सहत शरीर ॥ १० ॥

असन बसन सुत नारि सुख, पापिहुँ के घर होइ।
संत-समागम, हरिकथा तुलसी दुर्लभ दोइ ॥ ११ ॥

तुलसी मीठे वचन तें, सुख उपजत चहुँ ओर।
वसीकरन यह मंत्र है, परिहरु वचन कठोर ॥ १२ ॥

गो धन, गज धन, बाजि धन, और रतन धन खान।
जब आवत संतोष धन, सब धन धूरि समान ॥ १३ ॥

तौ लगि जोगी जगत गुरु, जौ लगि रहत निरास।
जब आसा मन में जगी, जग गुरु जोगी दास ॥ १४ ॥

उरग, तुरग, नारी, नृपति, नर नीचो, हथियार।
तुलसी परखत रहब नित, इनहिं न पलटत बार ॥ १५ ॥

दुर्जन दर्पन सम सदा, करि देखो हिय गौर।
सनमुख की गति और है, बिमुख भये पर और ॥ १६ ॥

राग रोष गुन दोष को, साखी हृदय-सरोज।
तुलसी विकसत मित्र लखि, सकुचत देखि मनोज ॥१७॥

तुलसी जो कीरति चहहिं, पर कीरति को खोइ।
तिनके मुंह मसि लागि है, मुए न मिटिहै धोइ ॥ १८ ॥

होत भले के अनभले, होइ दानि के सूम।
होइ कुपूत सुपूत के, ज्यों पावक में धूम ॥ १९ ॥

बरषि विस्व हरषित करत, हरत ताप, अघ, प्यास।
तुलसी दोष न जलद को, जो जल जरै जवास ॥२०॥
सारदूल को स्वांग करि, कूकर की करतूति।
तुलसी तापर चाहिए, कीरति, विजय, विभूति ॥२१॥
सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय, तिन्हैं विलोकत हानि ॥२२॥
सोई ज्ञानी सोई गुनी जन सोई दाता ध्यानि।
तुलसी जाके चित भई राग द्वेष की हानि ॥२३॥
तुलसी पावस के समय, धरी कोकला मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमें पूछिहैं कौन ॥२४॥
तुलसी 'रा' के कहत ही, निकसत पाप-पहार।
फिरि भीतर आवत नहीं देत 'म' कार किवार ॥२५॥
रैन को भूषन इंदु है, दिवस को भूषन भान।
दास को भूषन भक्ति है, भक्ति को भूषन ज्ञान ॥२६॥
ज्ञान को भूषन ध्यान है ध्यान को भूषन त्याग।
त्याग को भूषन शांति पर, तुलसी अमल अदाग ॥२७॥
दीरघ रोगी दारिदी, कटु बच लोलुप लोग।
तुलसी प्रान समान जो, तऊ त्यागिबे योग ॥२८॥
काम क्रोध मद लोभ की, जौलौं मन में खान।
तौलौं पंडित मूरखौ, तुलसी एक समान ॥२९॥

सात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिये तुला इक अङ्ग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्सङ्ग ॥३०॥
आवत ही हर्षै नहीं, नैनन नहीं सनेह।
तुलसी तहां न जाइये, कंचन बरसे मेह ॥३१॥

——:o:——

चौपाईयां

(१)

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी ।
तिन्हहिं विलोकत पातक भारी ॥
निज-दुख गिरि सम रज करि जाना ।
मित्र के दुखरज मेरुसमाना ॥
जिन के असि मति सहज न आई ।
ते सठ हठि कत करत मिताई ॥
कुपथ निवारि सुपंथ चलावा ।
गुण प्रगटइ अवगुनहिं दुरावा ॥
देत लेत मन संक न धरई ।
वल अनुमान सदा हित करई ॥
विपतिकाल कर सतगुन नेहा ।
स्रुति कह संत मित्रगुन एहा ॥
आगे कह मृदु वचन वनाई ।
पीछे अनहित मन कुटिलाई ॥
जाकर चित अहि गति सम भाई ।
अस कुमित्र परिहरेहि भलाई ॥
सेवक सठ नृप कृपन कुनारी ।
कपटी मित्र सूल समचारी ॥

———

(२)

सोचिय विप्र जो वेद-विहाना ।
ताजि निज धर्म विषय लयलीना ॥
सोचिय नृपति जो नीति न जाना ।
जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥
सोचिय बयसु कृपिन धनवानू ।
जो न अतिथि सिव भगति सुजानू ॥
सोचिये सूद्र विप्र अपमानी ।
मुखर मानप्रिय ज्ञानगुमानी ॥
सोचिय पुनि पतिवंचक नारी ।
कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी ॥
सोचिय बटु निजव्रत परिहरई ।
जो नहिं गुरुआयसु अनुसरई ॥

———

(३)

बोले लषन मधुर-मृदु बानी ।
ज्ञान-विराग-भगति-रस सानी ॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता ।
निज कृत करम भोग सब भ्राता ॥
जोग बियोग भोग भल मंदा ।
हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥

जनम मरन जहँ लग जगजालू।
संपति विपति करम अरु कालू॥
धरनि धाम धन पुर परिवारू।
सुरग नरक जहँ लगि व्यवहारू॥
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं।
मोह मूल परमारथ नाहीं॥

———

(४)

धीरज धरम मित्र अरु नारी।
आपद काल परखियहि चारी॥
वृद्ध रोगवस जड़ धनहीना।
अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥
ऐसेहु पतिकर किये अपमाना।
नारि पाव यमपुर दुख नाना॥
एकइ धरम एक व्रत नेमा।
काय बचन मन पतिपद प्रेमा॥
जग पतिव्रता चारि विधि अहहीं।
वेद पुरान संत सब कहहीं॥
उत्तम के अस बस मन माहीं।
सपनेहु आन पुरुष जग नाहीं॥

मध्यम परपति देखई कैसे ।
भ्राता पिता पुत्र निज जैसे ॥
धरम विचारि समुझि कुल रहई ।
सो निकृष्ट तिय स्रुति अस कहई ॥
बिनु अवसर भय तें रह जोई ।
जानेहु अधम नारि जग सोई ॥
पति बंचक पर पति-रति करई ॥
रौरव नरक कलपसत परई ॥
छन सुख लागि जनम सत कोटी ।
दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ॥
बिनु स्रम नारि परम गति लहई ।
पति-ब्रत-धरम छाड़ि छल गहई ॥
पति-प्रतिकूल जनम जहँ जाई ।
बिधवा होई पाई तरुनाई ॥

—:o:—

रहीम ख़ान

[संवत् १६१०—१६८२]

इन का पूरा नाम अब्दुर्रहीम ख़ां ख़ानख़ाना था। यह अकबर के प्रधान सेनापति, मन्त्री और दरबार के नवरत्नों में से एक थे। इनका व्यक्तित्व बड़ा ऊँचा है। यह अरबी, फ़ारसी, संस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान थे। इन की सभा सदा पंडितों से भरी रहती थी। हिन्दु सभ्यता नस नस में समाई हुई थी। इन की दानशीलता अनुपम थी। परोपकारी भी खूब थे। श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे। इनका स्वभाव बहुत सरस और दया-पूर्ण था। इन को संसार का बड़ा गहरा अनुभव था।

रहीम के दोहे सर्वप्रिय हैं। इन की कविता बड़ी ही ऊंची है। उपमाएँ मनोमुग्धकारिणी हैं।

— ——

रहिमन-सुधा

अनुचित उचित रहीम लघु, करहिं बड़ेन के जोर।
ज्यों ससि के संयोग तें, पचवत आगि चकोर ॥ १ ॥

अब रहीम मुसकिल परी, गाढ़े दोऊ काम।
सांचे सों तो जग नहीं, झूठे मिलैं न राम ॥ २ ॥

अमरस ऐसे वचन में, रहिमन रिस की गांस।
जैसे मिसिरिहु में मिली, निरस बाँस की फांस ॥ ३ ॥

आप न काहु काम के, डार पात फल फूल।
औरन को रोकत फिरैं, रहिमन पेड़ बबूल ॥ ४ ॥

ए रहीम दर-दर फिरहिं, माँगि मधुकरी खाहिं।
यारो, यारी छोड़िए, वे रहीम अब नाहिं ॥ ५ ॥

अंजन दियो तो किराकिरी, सुरमा दियो न जाय।
जिन आँखिनसों हरि लख्यो, रहिमन बलि बलि जाय ॥६॥

अंतर दाव लगी रहै, धुआँ न प्रगटै सोय।
कै जिय जाने आपनो, (कै) जा सिर बीती होय ॥ ७ ॥

कहि रहीम धन बढ़ि घटे, जाति धनिन की बात।
घटै बढ़ै उनको कहा, घास बेचि जे खात ॥ ८ ॥

कहि रहीम संपति सगे बनत बहुत बहु रीत।
बिपति-कसौटी जे कसे, सोई सांचे मीत ॥ ९ ॥

कहु रहीम केतिक रही, केतिक गई विहाय।
माया ममता मोह परि, अंत चले पछिताय ॥१०॥

कहु रहीम कैसे निभै, वेर केर को संग।
वे डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग ॥११॥

कागद को सो पूतरा, सहजहि में घुरि जाय।
रहिमन यह अचरज लखो, सोऊ खींचत वाय ॥१२॥

कैसे निवहैं निवल जन, करि सवलनि सों वैर।
रहिमन वसि सागर विषे, करत मगर सों वैर ॥१३॥

खीरा सिर ते काटिए, मलियत नमक लगाय।
रहिमन करुए मुखन को, चहियत यही सजाय ॥१४॥

खैर, खून, खाँसी, खुशी, वैर, प्रीति, मदपान।
रहिमन दावे न दवें, जानत सकल जहान ॥१५॥

जव लगि वित्त न आपुने, तव लगि मित्र न कोय।
रहिमन अंवुज अंवु विन, रवि नाहिन हित होय ॥१६॥

जो गरीव पै हित करैं, ते रहीम वड़ लोग।
कहाँ सुदामा वापुरो, कृष्ण-मिताई-जोग ॥१७॥

जेहि रहीम तन मन लियो, कियो हियो विच भौन।
तासों सुख-दुख कहन की, रही वात अव कौन ॥१८॥

जैसी तुम हम सों करी, करी करी जो तीर।
वाढ़े दिन के मीत हो, गाढ़े दिन रघुवीर ॥१९॥

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग
चंदन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग ॥ २० ॥

जो रहीम गति दीप की, कुल कुपूत-गति सोय ।
बारे उजिआरो लगे, बढ़े अँधेरो होय ॥ २१ ॥

तासों ही कछु पाइये, कीजे जाकी आस ।
रीते सरवर पर गये, कैसे बुझे पियास ॥ २२ ॥

दुरदिन परे रहीम कहि, भूलत सब पहिचानि ।
सोच नहीं वित-हानि को, जो न होय हित हानि ॥ २३ ॥

दोऊ रहिमन एक से, जौलौं बोलत नाहिं ।
जानि परत हैं काक पिक, ऋतु बसंत के माहिं ॥ २४ ॥

धन दारा अरु सुनन सो, लगो रहे नित चित्त ।
क्यों रहीम खोजत नहीं, गाढ़े दिन को मित्त ॥ २५ ॥

धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पियत अघाय ।
उदधि-बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय ॥ २६ ॥

नाद रीझि तन देत मृग, नर धन हेत समेत ।
ते रहीम पसु से अधिक, रीझेहु कछू न देत ॥ २७ ॥

पावस देखि रहीम मन, कोइल साध्यो मौन ।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमें पूछिहै कौन ॥ २८ ॥

बड़े दीन को दुख सुने, लेत दया उर आनि ।
हरि-हाथी सों कब हुती, कहु रहीम पहिचानि ॥२९॥

बड़े बड़ाई ना करैं, बड़े न बोलें बोल।
रहिमन हीरा कब कहे, लाख टका मो मोल ॥३०॥

बिगरी बात बनै नहीं, लाख करो किन कोय।
रहिमन फाटे दूध को मथे न माखन होय ॥३१॥

भावी काहू ना दही, भावी-दह भगवान।
भावी ऐसी प्रबल है, कहि रहीम यह जान ॥३२॥

भूप गनत लघु गुनिन को, गुनी गनत लघु भूप।
रहिमन गिरिते भूमि लौं, लखौ तौ एकै रूप ॥३३॥

मथत-मथत माखन रहै, दही मही बिलगाय।
रहिमन सोई मीत है भीर परे ठहराय ॥३४॥

यह न रहीम सराहिए, देन लेन की प्रीत।
प्रानन बाजी लाइये, हारि होय कै जीत ॥३५॥

यों रहीम सुख दुख सहत, बड़े लोग सह साँति।
उदत चंद जेहि भांति सों, अथवत ताही भाँति ॥३६॥

रहिमन उजरी प्रकृति को, नहीं नीच को संग।
करिया बासन कर गहे, कारिख लागति अंग ॥३७॥

रहिमन ओछे नरन सों, बैर भलो ना प्रीति।
काटे-काटे स्वान के, दुहू भांति बिपरीति ॥३८॥

रहिमन चुप ह्वै बैठिए, देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगिहै देर ॥३९॥

रहिमन जिह्वा बावरी, कहि गई सरग पताल ।
आपु तौ कहि भीतर रही, जूती खात कपाल ॥४०॥

रहिमन तीन प्रकार ते हित अनहित पहिचानि ।
पर बस परे, परोस बस, परे मामिला जानि ॥४१॥

रहिमन देखि बड़ेन को, लघु न दीजिए डारि ।
जहां काम आवै सुई, कहा करै तरवारि ॥४२॥

रहिमन नीचन संग बसि, लगत कलंक न काहि ।
दूध कलारी कर गहे, मद समुझै सब ताहि ॥४३॥

रहिमन पानी राखिए, बिनु पानी सब सून ।
पानी गये न ऊबरैं, मोती, मानुष, चून ॥४४॥

रहिमन ब्याह बिआधि है, सकहु तो जाहु बचाय ।
पाँयन बेड़ी परत है, ढोल बजाय-बजाय ॥४५॥

रहिमन बहु भेषज करत, व्याधि न छाँड़त साथ ।
खग मृग बसत अरोग बन, हरि अनाथ के नाथ ॥४६॥

रहिमन बात अगम्य की, कहन सुनन की नाहिं ।
जे जानत ते कहत नहिं, कहत ते जानत नाहिं ॥४७॥

रहिमन राज सराहिए, ससि सम सुखद जो होय ।
कहा बापुरो भानु है, तप्यो तरैयन खोय ॥४८॥

रहिमन रिस को छाँड़ि कै करो गरीबी भेस ।
मीठो बोलो, नै चलो, सबै तुम्हारो देस ॥४९॥

रहिमन लाख भला करो, अगुनी अगुन न जाय।
राग सुनत पय पियत हू, सांप सहज धरि खाय ॥५०॥
रहिमन विद्या बुद्धि नहिं, नहीं धरम जस दान।
भू पर जन्म वृथा धरै, पसु बिनु पूँछ विषान ॥५१॥
रहिमन ते नर मरि चुके, जे कहुँ माँगन जाहिँ।
उनतें पहिले वे मरे, जिन मुख निकसत नाहिं ॥५२॥
बरु रहीम कानन भलो, वास करिय फल भोग।
बंधु मध्य धनहीन है, वासिबो उचित न योग ॥५३॥
वे रहीम नर धन्य हैं, पर उपकारी अंग।
बाँटनवारे को लगै, ज्यों मेंहदी को रंग ॥५४॥
सदा नगारा कूच का, बाजत आठों जाम।
रहिमन या जग आइ कैं, को करि रहा मुकाम ॥५५॥
समय दसा कुल देखि कैं, सबै करत सनमान।
रहिमन दीन अनाथ को, तुम बिनु को भगवान ॥५६॥
सरवर के खग एक से, बाढ़त प्रीति न धीम।
पै मराल को मानसर, एकै ठौर रहीम ॥५७॥
सर सूखे पंछी उड़ैं, औरे सरन समाहिँ।
दीन मीन बिन पंख के, कहु रहीम कहँ जाहिँ ॥५८॥
साधु सराहै साधुता, जती जोषिता जान।
रहिमन साँचे सूर को, बैरी कहत बषान ॥५९॥

सौदा करो सो करि चलो, रहिमन याही बाट।
फिरि सौदा पैहो नहीं, दूरि जान हैं बाट ॥६०॥
संतत संपति जानि कैं, सब को सब कोउ देत।
दीनबंधु बिनु दीन की, को रहीम सुधि लेत ॥६१॥
सीत हरत, तम हरत नित, भुवन भरत नहिं चूक।
रहिमन तेहि रवि को कहा, जो घटि लखै उलूक ॥६२॥
हरि रहीम ऐसी करी, ज्यों कमान सर पूर।
खैंचि आपनी ओर को, डारि दियो पुनि दूर ॥६३॥
मांगे मुकरि न को गयो, केहि न त्यागियो साथ।
मांगत आगे सुख लह्यो, ते रहीम रघुनाथ ॥६४॥
तरुवर फल नहिं खात हैं, सरवर पियहिं न पान।
कहि रहीम पर काज हित, सम्पति सुचहिं सुजान ॥६५॥
रीति प्रीति सब सों भली, बैर न हित मित गोत।
रहिमन याही जनम की, बहुरि न सङ्गति होत ॥६६॥
रहिमन दानि दरिद्र पर, तऊ जांचिबे योग।
ज्यों सरितन सूखा परे, कुवां खनावत लोग ॥६७॥
दीन सबन को लखत है, दीनहिं लखै न कोय।
जो रहीम दीनहिं लखै, दीनबन्धु सम होय ॥६८॥
काम कछु आवै नहीं, मोल न कोऊ लेइ।
बाजू टूटे बाज को, साहब चारा देइ ॥६९॥

शशि की शीतल चाँदनी, सुन्दर सबहिं सुहाय।
लगे चोर चित्त में लटी, घटि रहीम मन आय ॥७०॥

गगन चढ़ै फिर क्यों तिरै, रहिमन वहरी बाज।
फेरि आइ बन्धन परे, पेट अधम के काज ॥७१॥

जाय समानो उदधि में, गङ्ग नाम भयो धीम।
काकी महिमा न घटी, पर घर गये रहीम ॥७२॥

जैसी परे सो सहि रहे, कहि रहीम यह देह।
धरती ही पर परत सब, शीत घाम औ मेह ॥७३॥

रहिमन निज मन की व्यथा, मनहीं राखो गोय।
सुनि अठिलैहैं लोग सब, बाँटि न लैहैं कोय ॥७४॥

रहिमन विपदा तू भली, जो थोर दिन होय।
हित अनहित या जगत में, जानि परत सब कोय ॥७५॥

—०:०—

सुन्दर

[संवत् १६५३—१७४६]

सुन्दरदास जी संस्कृत के पूरे पंडित थे। गुजराती, मारवाड़ी, हिन्दी और फारसी भी अच्छी तरह जानते थे। काशी में उन्नीस साल रहकर इन्होंने वेदान्त, दर्शन और पुराण आदि अनेक ग्रन्थ पढ़े। इन की कविता से प्रकट होता है कि ये अच्छे ज्ञानी और काव्य-कला मर्मज्ञ थे। इन के रचे छोटे-मोटे ग्रंथों की संख्या ४० से अधिक है, जिन में सुंदर-विलास बहुत प्रसिद्ध है। इन की कविता में भाव ही भाव है, कृत्रिम शब्दाडम्बर नहीं।

सुन्दर कवि बालब्रह्मचारी थे। स्त्री चर्चा से इनको बड़ी घृणा थी। ये स्वच्छता को बहुत पसंद करते थे। स्वभाव ऐसा अच्छा था कि जो इन से मिलता, बस वह इनका भक्त बन जाता। इन की वाणी में मिठास थी। बालकों से बड़ा प्रेम करते थे।

—:o:—

सुन्दर-विचार

कवित्त

काहू सों नरोष-तोष, काहू सों न राग-द्वेष,
काहू सों न वैर भाव, काहू सों न घात है।
काहू सों न बकवाद, काहू सों नहीं विषाद,
काहू सों न संग, न तो काहू परछपात है॥
काहू सों न दुष्ट बैन, काहू सों न लेन-देन,
ब्रह्म को विचार, कछू और न सुहात है।
सुन्दर कहत सोई ईसन को महाईस,
सोई गुरुदेव जाके दूसरी न बात है॥ १॥

———

पाँव रोपि रहे रनमाहिं रजपूत कोऊ,
हय गय गाजत, जुरत जहाँ दल है।
बाजत जुझाऊ सहनाई, सिंधु राग पुनि,
सुनतहिं कायर की छूटि जात कल है॥
झलकत है बरछी, तिरछी तरवारि बहै,
'मार-मार' करत, परत खलभल है।
ऐसे जुद्ध में अडिग्ग सुन्दर सुभट सोई,
घर माहिं सूरमा कहावत सकल है॥ २॥

———

जल को सनेही मीन बिछुरत तजै प्रान,
मनि बिनु अहि जैसे जीवत न लहिये।
स्वाति-बुन्द को सनेही, प्रगट जगत माहिं,
एक सीप दूसरो सुचातकहु कहिये॥
रवि को सनेही पुनि कमल सरोवर में,
ससि को सनेही हू चकोर जैसे रहिये।
तैसे ही सुन्दर एक प्रभु सों सनेह जोरि,
और कछु देखि काहू ओर नहिं बहिये॥३॥

घेरिये तो घेरे हू न आवत है मेरो पूत,
जोई परबोधिये सो कान न धरतु है।
नीति न अनीति देखै, सुभ न असुभ पेखै,
पलहू में होनी-अनहोनी हू करतु है॥
गुरु की न साधु की न लोक-वेदहू की संक,
काहू की न मानै, न तो काहू तें डरतु है।
सुन्दर कहत ताहि धीजिए सु कौन भाँति,
मन को सुभाव, कछु कह्यो न परतु है॥४॥

बोलिये तो तब जब बोलिबे की सुधि होइ,
न तो मुख मौन गहि चुप होई रहिए।

जोरिये तो तब जब जोरिबे की जानि परे,
तुक छन्द अरथ अनूप जामें लहिए ॥
गाइये तो तब जब गाइबे को कंठ होय,
स्रवन के सुनत ही मन जाइ गहिए ।
तुक-भंग, छंद-भंग, अरथ मिले न कछु,
सुन्दर कहत ऐसी बानी नहीं कहिए ॥५॥

———

धूलि कैसो धन जाके सूली सो संसार-सुख,
भूलि जैसो भाग देखो, अंत कैसी यारी है ।
पाप जैसी प्रभुताई, स्राप जैसो सनमान,
बड़ाई बिच्छुनि जैसी, नागिनी सी नारी है ॥
अग्नि जैसो इन्द्रलोक, विघ्न जैसो विधिलोक,
कीरति कलंक जैसी, सिद्धि सी ठगारी है ।
वासना न कोई बाकी, ऐसी मति सदा जाकी,
सुन्दर कहत ताहि बंदना हमारी है ॥६॥

——

जगत में आइकैं बिसार्‌यो है जगतपति,
जगत कियो है सोई जगत भरतु है ।
तेरे निसिदिन चिंता औरहि परी है आइ,
उद्यम अनेक भांति-भांति के करतु है ॥

इत-उत जाय के कमाई करि लाऊँ कछु,
नेक न अज्ञानी नर धीरज धरतु है।
सुन्दर कहत एक प्रभु के विश्वास विनु,
वादहि कों वृथा सठ, पचिकैं मरतु है ॥७॥

———

दोहे

रसु सोई अमृत पिवै, नर सोई जिहि ज्ञान ।
सुप सोई जो बुद्धि बिन, तीनौं उलटे जान ॥ १ ॥
लालन मेरा लाडला, रूप बहुत तुझ मांहिं ।
सुन्दर राखै नैन में, पलक उघारै नांहिं ॥ ॥ २ ॥
सुन्दर पंछी बिरछ पर, लियो बसेरा आनि ।
राति रहे दिन उठि गये, त्यौं कुटुम्ब सब जानि ॥ ३ ॥
लौन पुतरी उदधि में, थाह लेन कौं जाइ ।
सुन्दर थाह न पाइये, बिचही गई बिलाइ ॥ ४ ॥

—०:०:—

बिहारी लाल

[संवत् १६६०—१७२५]

महाकवि बिहारी लाल जयपुर-नरेश महाराज जयसिंह के दरबार के रत्न थे। जयपुर में ही इन्हों ने 'सतसई' बनाई, जो अपने ढंग की एक ही पुस्तक है। शृङ्गार रस का ऐसा मनोहर ग्रंथ अभी तक हिन्दी-साहित्य में दूसरा नहीं है। इस की तीस से अधिक टीकाएं छप चुकी हैं। 'सतसई' में कुल ७१६ दोहे हैं। एक-एक दोहे में बिहारी लाल ने इतना चमत्कार भर दिया है कि उस में काव्य-शक्ति की खासी झलक दिखाई पड़ती है। इनकी कविता के सम्बन्ध में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। वह ब्रजभाषा-साहित्य की शृङ्गार है।

—:o:—

बिहारी-मुक्तावली

मोहन मूरति स्याम की अति अद्भुत गति जोय।
बसति सुचित अन्तर तऊ प्रतिबिम्बित जग होय ॥ १ ॥
सखि सोहति गोपाल के उर गुञ्जन की माल।
बाहर लसति मनों पिये, दावानल की ज्वाल ॥ २ ॥
नाचि अचानक ही उठे, बिन पावस बन मोर।
जानत हौं नन्दित करी, इहि दिशि नन्दकिशोर ॥ ३ ॥
नित प्रति एकत ही रहत, वैस बरन मन एक।
चाहियत जुगुल किसोर लखि लोचन जुगुल अनेक ॥ ४ ॥
सोहत ओढ़े पीत पट स्याम सलोने गात।
मनों नीलमनि-सैल पर, आतप परयो प्रभात ॥ ५ ॥
अधर धरत हरि के परत ओठ दीठ पट जोति।
हरे बांस की बांसुरी इन्द्र-धनुष सी होति ॥ ६ ॥
या अनुरागी चित्त की गति समुझै नाहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़े स्याम रंग, त्यों-त्यों उज्जल होय ॥ ७ ॥
कहा भयो जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ।
उड़ी जाति कितहू गुड़ी, तऊ उड़ायक-हाथ ॥ ८ ॥
कहलाने एकत बसत अहि-मयूर, मृग-बाघ।
जगत तपोबन सो कियो दीरघ दाघ निदाघ ॥ ९ ॥

क्वनित भृङ्ग घंटावली, झरत दान मधु नीर।
मन्द-मन्द आवत चल्यो कुंजर-कुञ्ज-समीर ॥ १० ॥
दुसह दुराज प्रजानि कों क्यों न बढ़ै अति द्वंद।
अधिक अँधेरो जग करै मिलि मावस रवि चन्द॥ ११ ॥
कहैं यहै स्रुति सुमृति, यहै स्याने लोग।
तीन दबावत निसक ही, पातक, राजा, रोग ॥ १२ ॥
सबै हँसत करतारि दै, नागरता के नाँव।
गयो गरब गुन को सबै बसे गँवारे गाँव ॥ १३ ॥
जो चाहौ चटक न घटै मैलो होय न मित्त।
रज राजस न छुवाइये, नेह चीकने चित्त ॥ १४ ॥
नर की अरु नलनीर की गति एकै करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चलै तेतो ऊँचो होइ ॥ १५ ॥
इहि आसा अटक्यो रहै अलि, गुलाब के मूल।
पैहैं बहुरि बसन्त रितु इन डारिन वै फूल ॥ १६ ॥
कनक कनक तैं सौगुनी मादकता अधिकाय।
वा खाये बौरात है, या पाये बौराय ॥ १७ ॥
को छूट्यो इहि जाल परि, कत कुरङ्ग अकुलात।
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों-त्यों उरझत जात ॥१८॥
कर लै सूँघि सराहि कै, रहे सबै गहि मौन।
गन्धी, गन्ध गुलाब के गँवई गाहक कौन ॥ १९ ॥
वे न यहाँ नागर बड़े, जिन आदर तो आब।
फूल्यो अनफूल्यो भयो, गँवई गांव गुलाब ॥ २० ॥

जदपि पुराने बक तऊ, सरवर निपट कुचाल।
नये भये तो कह भयो, ए मनहरन मराल॥ २१॥
दिन दस आदर पाय कै करिलै आपु बखान।
जौलौं काग सराध-पख, तौलौं तो सनमान॥ २२॥
मरन प्यास पिंजरा परयो सुवा समय के फेर।
आदर दै-दै पालियत वायस बलि की बेर॥ २३॥
चले जाहु ह्याँ को करत हाथिन को व्योपार।
नहीं जानत, या पुर बसत धोबी और कुम्हार॥ २४॥
समै-समै सुंदर सबै, रूप-कुरूप न कोय।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय॥ २५॥
जगत जनायो जेहि सकल सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिये, आँखि न देखी जाहिं॥ २६॥
जपमाला छापा तिलक सरै न एकौ काम।
मन काँचे नाचे वृथा, साँचे राँचे राम॥ २७॥
तौ लगि या मन सदन मैं हरि आवैं किहि बाट।
विकट जरे जौ लगि निपट खुलैं न कपट-कपाट॥ २८॥
यह विरिया नहिं और की, तू करिया वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाय जिन कीन्हे पार पयोधि॥ २९॥
भजन कह्यो तासों भज्यो, भज्यो न एकौ बार।
दूर भजन जासों कह्यो सो तू भज्यो गँवार॥ ३०॥
पतवारी माला पकरि, और न आन उपाय।
तरि संसार-पयोधि कों, हरि-नामैं करि नाव॥ ३१॥

सुन, मोहन सों मोह करि, तू घनस्याम निहारि।
कुंजविहारी सों बिहरि, गिरिधारी उर धारि॥ ३२॥
दीरघ सांस न लेइ दुख, सुख साईं नहिं भूल।
दई-दई क्यों करत है, दई-दई सुकबूल॥ ३३॥
नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
मनों तज्यो तारन-बिरद, वारक वारन तारि॥ ३४॥
थोरेई गुन रीझते, बिसराई वह बानि।
तुमहू कान्ह भये मनों, आज-कालिह के दानि॥ ३५॥
कब को टेरत दीन ह्वै, होत न कृष्ण सहाय।
तुमहू लागी जगत-गुरु जगनायक जग-बाय॥ ३६॥
कोऊ कोटिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा, बिपति-बिदारनहार॥ ३७॥
ज्यों ह्वैहौं त्यों होंहुगो, हौं हरि अपनी चाल।
हठ न करौ अति कठिन है मो तारिबो गोपाल॥ ३८॥
हरि, कीजत तुमसों यहै बिनती बार हजार।
जेहि तेहि भांति डरो रहौं, परो रहौं दरबार॥ ३९॥
तो बलिये भलिये बनी, नागर नन्दकिसोर।
जो तुम नीके कै लखौ, मो करनी की ओर॥ ४०॥
कैसे छोटे नरन तें, सरत बड़नि के काम।
मढ्यो दमामो जात है, कहिं चूहे के चाम॥ ४१॥
मीत न नीति गलीत है, जो धरिये धन जोरि।
खाये खरचे जो बचै, तो जोरिये करोरि॥ ४२॥

अति अगाध अति ऊथरो, नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहाँ, जाकी प्यास बुझाय ॥४३॥
बुरो बुराई जो तजै, तो मन खरो सकात।
ज्यों निकलंक मयंक लखि, गनैं लोग उतपात ॥४४॥
सीतलता रु सुगन्ध की, महिमा घटी न मूर।
पीसनवारे जे तज्यो, सोरा जानि कपूर ॥४५॥
को कहि सके बड़ेन सों, लखि बड़ीयो भूल।
दीने दई गुलाब की, इन डारन ये फूल ॥४६॥
संगति सुमति न पावई, परे कुमति के धंध।
राखो मेलि कपूर में, हींग न होय सुगंध ॥४७॥
नहिं पावस ऋतुराज यह, तज तरुवर मति भूल।
अपत भये बिन पाइ है, क्यों नव दल फल फूल ॥४८॥
बड़े न हूजैं गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय ॥४९॥
अरे हंस या नगर में, जैयो आप विचारि।
कागन सों जिन प्रीति कर, कोयल दई बिडारि ॥५०॥

—:०:—

भूषण

[संवत् १६७०—१७७२]

इन का असली नाम अभी तक ज्ञात नहीं । भूषण तो उपाधि थी, जो इन्हें चित्रकूटाधिपति रुद्रराम सोलंकी द्वारा प्राप्त हुई थी। भूषण के एक मात्र आश्रयदाता वीर-केसरी शिवा जी थें जिनकी वीरता का वर्णन इन्होंने 'शिवराज भूषण' नामी ग्रंथ में किया है। 'शिवाबावनी' भी इसी विषय की छोटी सी पुस्तक है। ये शिवा जी के साथ कई लड़ाईयों में भी उपस्थित थे।

भूषण बड़े प्रतिभाशाली और वीर-कवि थे। इन की कविता में जातीयता कूट-कूट कर भरी हुई है। इस से आज भी मृतप्राय हिन्दू जाति की निष्प्राण नसों में रुधिर का संचार होता है। इन के समान अपनी कविता में जाति-अभिमान रखने वाला हिन्दी के पुराने कवियों में कोई नहीं हुआ और इन के समान वीर कवि तो अब तक कोई न हुआ।

भूषण अपनी अद्भुत रचना के कारण अमर हो गए हैं। यदि शिवा जी ऐसे वीर और भूषण ऐसे सुकवि फिर जन्म लें, तो हिन्दू जाती के पुनरुत्थान में किसे सन्देह हो सकता है?

——

छत्रपति शिवाजी

१

इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज है।
पौन वारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्त्रबाहु पर राम द्विजराज है॥
दावा द्रुमदंड पर, चीता मृग-भुण्ड पर,
भूषन वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ-वंश पर सेर सिवराज है॥

——

२

साजि चतुरंग वीर रंग में तुरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जंग जीतन चलत है।
भूषन भनत नाद बिहद नगारन के,
नदी नदमद गव्बरन के रलत है॥
ऐल फैल खैल-भैल खलक में गैल-गैल,
गजन की ठेल-पेल सैल उलसत है।
तारा सो तरनि धूरि-धारा में लगत जिमि,
थारा पर पारा पारावार यों हलत है॥

——

३

मारि करि पातसाही खाकसाही कीन्ही जिन,
जेर कीन्हो जोर सों लै हद सब मारे को।
खिसी गई सेखी, फिसि गई सूरताई सब,
हिसी गई हिम्मत हजारों लोग सारे को॥
बाजत दमामें लाखों धौंसा आगे घहरात,
गरजत मेघ ज्यों बरात चढ़े भारे को।
दूलहो सिवाजी भयो दच्छिनी दमामेवारे,
दिल्ली दुलहिनी भई सहर सितारे की॥

४

ऊंचे घोर मन्दिर के अन्दर रहनवारी
ऊंचे घोर मन्दिर के अन्दर रहाती हैं।
कन्द मूल भोग करैं कन्द मूल भोग करैं
तीन बेर खातीं सो तो तीन बेर खाती हैं।
भूषन सिथिल अंग भूखन सिथिल अंग
बिजन डुलातीं ते वे बिजन डुलाती हैं।
'भूषन' भनत सिवराज वीर तेरे त्रास
नगन जड़ातीं ते वे नगन जड़ाती हैं॥

५

सोंधे को अधार किसमिस जिन को अहार
चारि को सो अंक लंक चन्द सरमाती हैं।

ऐसी अरि नारी शिवराज वीर तेरे त्रास
पायन में छाले परे कन्द मूल खाती हैं।
ग्रीषम तपति एती तपती न सुनी कान
कंज कैसी कली बिनु पानी मुरझाती है।
तोरि तोरि आछे से पिछौरा सों निचोरि मुख
कहैं "अब कहाँ पानी मुकतों में पाती हैं" ॥

६

राखी हिन्दुवानी, हिन्दुवान को तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे वेदविधि सुनी मैं।
राखी राजपूती राजधानी राखी राजन की,
धरामें धरम राख्यो, राख्यो गुन गुनी मैं ॥
भूषन सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की,
देस-देस कीरति बखानी तव सुनी मैं।
साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबि के दिवाल राखी दुनि में ॥

७

वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर में ॥
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो, माला राखी गर में ॥
मीड़ि राखे मुगल, मरोड़ि राखे पातसाह,
वैरी पीसि राखे, बरदान राख्यो कर में ॥

राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल, स्वधर्म राख्यो घर में ॥

सवैया

कामिनि कंत सों, जामिनि चंद सों, दामिनि पावस मेघ घटा सों।
कीरति दान सों, सूरती ज्ञान सों, प्रीति बड़ी सन्मान महा सों॥
'भूषन' भूषन सों तरुनी, नलिनी नव पूषन-देव-प्रभा सों।
जाहिर चारिहु ओर जहान, लसै हिंदुवान खुमान सिवा सों॥१॥

——

यों सिर पै छहरावत छार हैं जातें उठैं असमान बघूरे।
भूषन भूधरऊ धरकैं जिनके धुनि धक्कन, यों बल रूरे॥
ते सरजा सिवराज दिये कविराजन को गजराज गरूरे।
सुंडन सों पहिले जिन सोखि कै फेरि महामद सों नद पूरे॥२॥

——

दच्छिन-नायक एक तुही, भुव-भामिनि को अनुकूल ह्वै भावै।
दीनदयाल न तो सो दुनी पर म्लेच्छ के दीनहि मारि मिटावै॥
श्री सिवराज, भनै कवि भूषन, तेरे सरूप को कोउ न पावै।
सूर के बंस में सूर-सिरोमनि ह्वै करि तू कुल-चंद कहावै॥३॥

——

केतिक देस दल्यो दल के बल, दच्छिन चंगुल चापि कै चाख्यो।
रूप गुमान हर्यो गुजरात को, सूरति को रस चूसि कै नाख्यो॥
पंजन पेलि मलिच्छ मल्यो सब सोई बच्यो जेहि दीन ह्वै भाख्यो।
सो रंग है सिवराज बली, जेहि नौरँग में रँग एक न राख्यो॥४॥

——

यों कवि भूषन भाषत है, इक तौ पहिले कलिकाल की शैली।
ता पर हिंदुन की सब राहन नौरँग साह करी अति मैली॥
साहि-तने सिव के डर सों तुरकी गहि वारिधि की गति पैली।
वेद पुरानन की चरचा, अरचा द्विज देवन की फिरि फैली॥५॥

——

दीन-दयाल, दुनी-प्रतिपालक, जे करता निरम्लेच्छ मही के।
भूषन भूधर उद्धरिबो सुने और जिते गन ते सबजी के॥
या कलि में अवतार लियो, तऊ तेई सुभाय सिवाजी बली के।
आय धर्यो हरि ते नर रूप, पै काज करे सिगरे हरि ही के॥६॥

——

तो कर सों छिति छाजत दान है दानहु सों अति तो कर छाजै।
तैं ही गुनी की बड़ाई सजै, अरु तेरी बड़ाई गुनी सब साजै॥
भूषन तोहि सों राज विराजत, राज सों तू सिवराज विराजै।
तो बल सों गढ़ कोट गजैं अरु तू गढ़ कोटन के बल गाजै॥७॥

——

एक कहैं कलपद्रुम है इमि पूरन है सब की चित-चाहै।
एक कहै अवतार मनोज को, यों तन में अति सुन्दरता है॥
भूषन एक कहैं महि-इन्दु यों, राज विराजत बाढ्यौ महा है।
एक कहैं नरसिंह है संगर, एक कहैं नरसिंह सिवा है॥८॥

——

वृन्द

[संवत् १८४२— ?]

वृन्द औरङ्गजेब के दरबारी कवि थे। उन्हों ने अन्य प्राचीन हिन्दी कवियों की भांति ब्रजभाषा में कविता की है। इन के ग्रन्थों में दृष्टान्त सतसई या वृन्दविनोद सतसई ही प्रसिद्ध है। इस में नीति संबन्धी सात सौ दोहे हैं। हिन्दी भाषा में वृन्द के समान किसी कवि ने नीति पर सुन्दर दोहे नहीं लिखे। दोहों की भाषा बड़ी सरस और सरल है, और बोल चाल में दृष्टान्त के ढंग पर शहरों से लेकर गाँवों तक उन का प्रचार भी बहुत है। इन्हों ने जो उपमाएँ और उदाहरण दिये हैं, वह बड़े अनूठे और हृदय-ग्राही हैं।

सूक्तियाँ

भले-बुरे सब एकसे जौलौं बोलत नाहिं।
जानि परत है काक-पिक ऋतु बसंत के माहिं ॥ १ ॥
बुरे लगत सिख के बचन, हिये विचारो आप।
करुवी भेषज बिन पिये मिटै न तन की ताप ॥ २ ॥
नयना देत बताय सब हिय को हेत अहेत।
जैसे निर्मल आरसी भली-बुरी कहि देत ॥ ३ ॥
फेरि न ह्वैहै कपट सों जो कीजै व्यौपार।
जैसे हांडी काठ की चढ़ति न दूजी बार ॥ ४ ॥
ओछे नर की प्रीति की दीनी रीति बताय।
जैसे छीलर ताल जल घटत-घटत घटि जाय ॥ ५ ॥
विद्या धन उद्यम बिना कहो जु पावै कौन।
बिना डुलाये ना मिलै ज्यौं पंखा की पौन ॥ ६ ॥
रहे समीप बड़ेन के होत बड़ो हित मेल।
सब ही जानत बढ़त है वृक्ष बराबर बेल ॥ ७ ॥
पिसुन छल्यो नर सुजनसों करत बिसास न चूकि।
जैसे दाध्यो दूध को पीवत छांछहि फूँकि ॥ ८ ॥
करै बुराई सुख चहै, कैसे पावै कोई।
रोपै बिरवा आक को आम कहाँ ते होई ॥ ९ ॥

सांच झूठ निर्णय करै नीति-निपुन जो होय।
राजहँस बिन को करै, छीर नीर को दोय ॥१०॥

करत करत अभ्यासके जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत-जात तें सिल पर परत निसान ॥११॥

भली करत लागति बिलम, बिलम न बुरे विचार
भवन बनावत दिन लगैं, ढाहत लगत न बार ॥१२॥

कुल सपूत जान्यो परै लखि सुभ लच्छन गात।
होनहार बिरवान के होत चीकने पात ॥१३॥

हितहू की कहिए न तेहि जो नर होय अबोध।
ज्यों नकटी को आरसी होत दिखाए क्रोध ॥१४॥

सबै सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आगि को दीपहि देत बुझाय ॥१५॥

दुष्ट न छांड़ै दुष्टता, कैसेहु सुख देत।
धोयेहूँ सौ बेर के काजर होत न सेत ॥१६॥

उत्तम जन सों मिलत ही अवगुन हू गुन होय।
घन सँग खारो उदधि मिलि बरसै मीठो तोय ॥१७॥

ऊपर दरसै सुमिलसी अंतर अनमिल आँक।
कपटी जनकी प्रीति है खीरा की सी फांक ॥१८॥

सरसुति के भंडार की बड़ी अपूरब बात।
ज्यों खरचै त्यों-त्यों बढ़ै, बिन खरचे घटि जात ॥१९॥

क्यों कीजे ऐसो जतन जाते काज न होय।
परबत पर खोदै कुँआ, कैसे निकसै तोय ॥२०॥

जो जाको गुन जानही सो तेहि आदर देत।
कोकिल अंबहिं लेत है, काग निवौरी लेत ॥२१॥

दीबो अवसर को भलो जासों सुधरै काम।
खेती-सूखे बरसिबो घन को कौने काम ॥२२॥

अपनी पहुँच विचारि कैं करतब करिए दौर।
तेते पांव पसारिये जेता लाँबी सौर ॥२३॥

कैसे निबहै निबल जन करि सबलन सों गैर।
जैसे बसि सागर विषे करत मगर सों बैर ॥२४॥

जाही ते कछु पाइये करिये ताकी आस।
रीते सरवर पे गये कैसे बुझति पियास ॥२५॥

अति परचै ते होत है अरुचि अनादर भाय।
मलयागिरि की भीलनी चंदन देत जराय ॥२६॥

जो पावै अति उच्च पद ताको पतन निदान।
ज्यों तपि-तपि मध्यान्ह लौं अस्त होत है भान ॥२७॥

बहुत निबल मिलि बल करैं करैं जु चाहैं सोय।
तिनकन की रसरा करी, करी निबन्धन होय ॥२८॥

कारज धीरे होत है, काहे होतु अधीर!
समय पाय तरुवर फलै केतक सींचो नीर ॥२९॥

जे चेतन ते क्यों तजैं जाको जासों मोह।
चुंबक के पीछे लग्यो फिरत अचेतन लोह ॥३०॥

मूरख गुन समझै नहीं तौ न गुनी में चूक।
कहा घट्यो दिन को विभौ, देखै जो न उलूक ॥३१॥

कछु कहि नीच न छेड़िए, भलो न वाको संग।
पाथर डारे कीच में उछरि बिगारे अङ्ग ॥३२॥
छमा-खड्ग लीने रहै, खल को कहा बसाय।
अगिन परी तृन-रहित थल आपहि ते बुझि जाय ॥३३॥
बचन रतन कापुरुष के कहे न छिन ठहरायँ।
ज्यों करपद मुख कछुप के निकसि निकसि दुरि जायँ ॥३४॥
सब सों आगे होय कैं, कबहुँ न करिए बात।
सुधरे काज समाज फल, बिगरे गारी खात ॥३५॥
दोषहिं को उमहैं गहैं, गुन न गहैं खल लोक।
पियै रुधिर पय ना पियै, लागि पयोधर जौंक ॥३६॥
गुरुता लघुता पुरुष की, आश्रय वशतें होय।
करी वृदं में विंध्य सों दर्पन में लघु सोय ॥३७॥
जिहि प्रसंग दूषन लगे, तजिये ताको साथ।
मदिरा मानत है जगत, दूध कलाली हाथ ॥३८॥
जाके संग दूषन दुरै, करिये तिहि पहिचानि।
जैसे समझैं दूध सब, सुरा अहीरी पानि ॥३९॥
गुन हो तऊ मँगाइये, जो जीवन सुख भौन।
आग जरावत नगर तऊ, आग न आनत कौन ॥४०॥
करिये सुख को होत दुख, यह कहो कौन सयान।
वा सोने को जारिये, जासों टूटैं कान ॥४१॥
तृनहूँ ते अरु तूल ते, हरुओ याचक आहि।
जानतु है कछु मांगि है, पवन उड़ावत नाहि ॥४२॥

जो जेहिं भावत सो भलो, गुन के कछु न विचार।
तज गजमुकता भीलनी, पहिरति गुंजा हार ॥४३॥
भले वंस को पुरुष सो, निहुरै वहु धन पाय।
नव धनुष सद्वंस को, जिहिं द्वै कोटि दिखाय ॥४४॥
वीर पराक्रम न करे, तासो डरत न कोई।
वालकहू को चित्र को, वाघ खिलौना होई ॥४५॥
कहा कहौं विधि को अविधि, भूले परे प्रवीन।
मूरख को सम्पति दई, पंडित संपतिहीन ॥४६॥
कछु वसाय नहिं सवलसों, करै निवल पर जोर।
चले न अचल उखार तरु, डारत पवन झकोर ॥४७॥
रोष मिटे कैसे कहत, रिस उपजावन वात।
ईंधन डारे आगमों, कैसे आग वुझात ॥४८॥

[वृन्द-सतसई]

गिरिधर कविराय

[संवत् १७७०—१८४४]

इन का 'वृत्तान्त' अब तक अंधकार में है। इन की कविता से ज्ञात होता है कि यह अवध के रहने वाले थे। कहते हैं कि गिरिधर और इन की धर्मपत्नी दोनों मिल कर कविता करते थे। जिन कुंडलियों के प्रारम्भ में "साई" शब्द है वे सब गिरिधर की स्त्री की बनाई हुई बताई जाती हैं। पर इस बात में कोई तथ्य मालूम नहीं होता।

गिरिधर की कुंडलियां बड़ी लोक प्रिय हैं, और आचार व्यवहार की सच्ची शिक्षा पाने वालों के बहुत काम की हैं।

———

कुंडलियाँ

गुन के गाहक सहस नर बिनु गुन लहै न कोय।
जैसे कागा कोकिला शब्द सुनै सब कोय॥
शब्द सुनै सब कोय कोकिला सबै सुहावन।
दोऊ को इक रंग काग सब भये अपावन॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो ठाकुर मन के।
बिन गुन लहै न कोय सहस नर गाहक गुन के॥ १॥

जाकी धन-धरती हरी ताहि न लीजै संग।
जो चाहै लेतै बनै तौ करि डारु अपंग॥
तौ करि डारु अपंग भूलि परतीति न कीजै।
सौ-सौ सौंहैं खाय चित्त में एक न दीजै॥
कह गिरिधर कविराय खटक जैहै नहिं ताकी।
अरि समान परिहरिय हरी धन-धरती जाकी॥ २॥

दौलत पाय न कीजिए सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चारि को ठाँउ न रहत निदान॥
ठाँउ न रहत निदान जियत जग में जस लीजै।
मीठे बचन सुनाय विनय सबही की कीजै॥

कह गिरिधर कविराय अरे यह सब घट तौलत।
पाहुन निशि दिन चारि रहत सबही के दौलत ॥ ३ ॥

———

साईं, अपने भ्रात को कबहुँ न दीजै त्रास।
पलक दूर नहीं कीजिए, सदा राखिए पास ॥
सदा राखिए पास त्रास कबहुँ नहिं दीजै।
त्रास दई लंकेस, ताहि की गति सुन लीजै ॥
कह गिरिधर कविराय राम सों मिलियो जाई।
पाय विभीषन राज लंकापति बाज्यो साईं ॥ ४ ॥

———

लाठी में गुन बहुत हैं सदा राखिए संग।
गहिर नदी नारा जहां, तहां बचावै अंग ॥
तहां बचावै अंग झपटि कुत्ता कहँ मारे।
दुश्मन दावागीर होयँ तिनहू को झारै ॥
कह गिरिधर कविराय सुनो हो धूर के बाठी।
सब हथियारन छांड़ि हाथ महँ लीजै लाठी ॥ ५ ॥

———

पानी बाढ्यो नाव में, घर में बाढ्यो दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यहै सयानों काम ॥
यहै सयानो काम राम को सुमिरन कीजै।
परस्वारथ के काज सीस आगे धरि दीजै ॥

कह गिरिधर कविराय बड़ेन की याही बानी।
चलिए चाल सुचाल राखिए अपनो पानी ॥ ६ ॥

———

साईं, घोड़े आछतहिं गदहन पायो राज।
कौआ लीजे हाथ में दूर कीजिए बाज ॥
दूर कीजिए बाज, राज पुनि ऐसो आयो।
सिंह कीजिए कैद स्यार गजराज चढ़ायो ॥
कह गिरिधर कविराय, जहां यह बूझि बधाई।
तहां न कीजे भोर सांझ उठि चलिये साईं ॥ ७ ॥

———

साईं, ऐसे पुत्र से बांझ रहै बरु नारि।
बिगरी बेटे बाप से जाय रहै ससुरारि ॥
जाय रहै ससुरारि नारि के नाम बिकाने।
कुल के धर्म नसायँ और परिवार नसाने ॥
कह गिरिधर कविराय मातु झांखै वहि ठाईं।
अस पुत्रनि नहिं होयँ, बांझ रहतिउँ बरु साईं ॥ ८ ॥

———

साईं, या संसार में मतलब को व्योहार।
जबलगि पैसा गांठि में तबलगि ताको यार ॥
तबलगि ताको यार, यार संगही संग डोलै।
पैसा रहा न पास, यार मुख से नहिं बोलै ॥

कह गिरिधर कविराय, जगत यह लेखा भाई।
करत बेगरजी प्रीति, यार बिरला कोई साईं ॥९॥

———

बिना विचारे जो करै सो पाछे पछिताय।
काज बिगारै आपनो, जग में होति हँसाय॥
जग में होत हँसाय, चित्त में चैन न पावै।
खान पान सनमान राग रंग मनहिं न भावै॥
कह गिरिधर कविराय दुःख कछु टरत न टारे।
खटकत है जिय माहिं, कियो जो बिना विचारे॥१०॥

———

कृतघन कबहुँ न मानहीं, कोटि करै जो कोय।
सर्वस आगे राखिये, तऊ न अपनो होय॥
तऊ न अपनो होय, भले की भली न मानै।
काम काढ़ि चुप रहै, फेरि तेहि नहिं पहिचानै॥
कह गिरिधर कविराय, रहत नितही निर्भय जन।
मित्र शत्रु सब एक, दाम के लालच कृतघन॥११॥

———

साईं अवसर के पड़े, को न सहै दुख द्वन्द।
जाय बिकाने डोम घर, वै राजा हरिचन्द॥
वै राजा हरिचन्द, करै मरघट रखवारी।
धरे तपस्वी वेष, फिरे अर्जुन बलधारी॥

कह गिरधर कविराय, तबै वह भीम रसोई।
को न करै घटि काम, परे अवसर के सोई ॥१२॥

रहिये लटपट काटि दिन, बरु घामे माँ सोय।
छाँह न वाकी बैठिये, जो तरु पतरो होय॥
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा देहै।
जा दिन बहै बयारि, टूटि तब जर से जैहै॥
कह गिरिधर कविराय, छाँह मोटे की गहिये।
पाता सब झरि जाय, तऊ छाया में रहिये ॥१३॥

साँई अपने चित्त की, भूलि न कहिये कोइ।
तब लग मन में राखिये, जब लग कारज होइ॥
जब लग कारज होइ, भूलि कबहुँ नहिं कहिये॥
दुरजन हँसे न कोय, आप सियरे ह्वै रहिये॥
कह गिरधर कविराय, बात चतुरन के ताईं।
करतूती कहि देत, आप कहिये नहिं साँईं ॥१४॥

साँईं समय न चूकिये, यथाशक्ति सन्मान।
को जाने को आइहै, तेरी पौरि प्रमान॥
तेरी पौरि प्रमान, समय असमय तकि आवे।
ताको तू मन खोलि, अंक भरि हृदय लगावे॥

कह गिरिधर कविराय, सब यामें सधि आई।
शलिल जल फल फूल, समद जानि चूकौ साईं ॥१५॥

पद्माकर

[संवत् १८१० — १८९०]

पद्माकर संस्कृत और प्राकृत के अच्छे पंडित थे। इन के रचे हुए ७ ग्रंथ बताये जाते हैं, पर सब प्रकाशित नहीं हैं। 'गंगालहरी' और 'प्रबोध-पचासा' नाम की इन की दो पुस्तकें अति रोचक और सरस हैं। इनकी कविता में माधुर्य की यथेष्ठ मात्रा पाई जाती है। यमक और अनुप्रास का खूब आनन्द मिलता है। अत्यधिक अलंकारिक भाषा के कारण इनकी रचना स्वाभाविकता और भाव-गाँभीर्य कहीं कहीं लुप्त है, तो भी लोकप्रिय है।

कविता द्वारा जो कवि धनाढ्य हो सके हैं, पद्माकर उन में से एक हैं। सदैव राजसी ठाट-बाट से रहा करते थे॥

गंगा-गुण-गान

१—

कूरम पै कोल, कोलहू पै शेष-कुंडली है,
कुंडली पै फबी फैल सुफन हजार की।
कहै पद्माकर त्यों फन पै फबी है भूमि,
भूमि पै फबी है थिति रजत-पहार की॥
रजत-पहार पर संभु सुरनायक हैं,
संभु पर जोति जटा-जूट है अपार की।
जोती जटा जूट पै चँद की छुटी है छटा,
चँद की छटान पै छटा है गंग-धार की॥

२—

जैसे तैं न मोको कहूं नेकहू डरात हुतो,
ऐसे अब तो सों हौंहु नेकहू न डरिहौं।
कहै पद्माकर प्रचंड जो परैगो तो,
उमंडि करि तो सों भुजदंड ठोंकि लरिहौं॥
चलो चलु, चलो चलु, विचलि न बीच ही तें,
कीच-बीच नीच, तो कुटुम्ब कों कचरिहौं।
एरे दगागार मेरे पातक अपार, तोहि
गंगा की कछार पै पछार छार करिहौं॥

३—

आयो जौन तेरी धौरी धारा में धसत जात,
तिनको न होत सुरपुर ते निपात है।
कहै पदमाकर तिहारौ नाम जाके मुख,
ताके मुख अमृत को पुंज सरसात है॥
तेरो तोय छूकै औ छुवत तन जाको वात,
तिनकी चलै न जमलोकन में बात है।
जहां जहां मैया, तेरी धूरि उड़ि जाति गंगा,
तहां-तहां पापन की धूरि उड़ि जात है॥

४—

कलि के कलंक कूर कुटिल कुराही केते,
तरिगे तुरंग तवै लीन्हीं रेनु राह जब।
कहै पद्माकर प्रयास विन पावे सिद्धि,
मानत न कोऊ जमदूतन की दाह दब॥
कागद करम करतूति के उठाई धरे,
पचि-पचि पेच में परे हैं प्रेत-नाह अब।
बेपरद बेदरद गजब गुनाहिन के,
गंगा की गरद कीन्हें गरद गुनाह सब॥

५—

तेरे तीर जौलौं एक लहर निहारियत,
तौलौं कैयो लच्छ-लच्छ लहरन धारती।

कहै पद्माकर चहौ जो वरदान तौलौं,
कैयो वरदानन के गान अनुसारती ॥
जौलौं लग्यो काहू सों कहन कला एक तुव,
तौलौं कैयो कला के समूहन सम्हारती ।
जौलौं एक तारे को हौं रचत कवित्त गंगे,
तौलौं तुम केतिक करोरि तारि डारती ॥

६—

पापन की पाँति महामंद मुख मैली भई,
दीपति दुचंद फैली धरम समाज की ।
कहै पद्माकर त्यों रोगन की राह परी,
दाह परी दुखन में, गाह अति गाजकी ॥
जा दिन तें भूमि पै भगीरथ ने आनी,
जग जानी गंगधारा या अपारा सब काजकी ।
ता दिन तें जानी सो बिकानी बिललानी सी,
बिलानी सी दिखानी राजधानी जमराजकी ॥

७—

एक महा पातकी सुगात की दसा बिलोकि,
देत यों उराहनों सुआठहू पहर है ।
मीच सभै तेरे उत आप गये कंठ इत,
व्यापि गयो कंठ कालकूट सो जहर है ॥
आप चढ़ी सीस मोहिं दीन्ही बकसीस औ,
हजार सीसवारे की सगाई अटहर है ।

मोहि करि नंगा अंग-अंगन भुजंगा।
बाँध्यो, पेरी मेरी गंगा, तेरी अद्भुत लहर है॥

८—

सारमाला सत्य की, विचारमाला वेदन की
भारी भागमाला है भगीरथ नरेस की।
तपमाला जन्हु की सुजप-माला जोगिन की,
आछी आप माला या अनादि ब्रह्मवेस की॥
कहै पद्माकर प्रमानमाला पुन्यन की
गंगाजू की धारा धनमाला है धनेस की।
ज्ञानमाला गुरू की, गुमान-माला ज्ञानन की,
ध्यानमाला ध्रुव मौलि-माला है महेस की॥

९—

ज्ञानन में, ध्यानन में, निगम-निदानन में,
मिलत न क्योंहू हरि ही में ध्याइयतु है।
कहै पद्माकर न तच्छन प्रतच्छन होत,
अच्छन के आगेहू अधिच्छ गाइयतु है॥
इन्दिरा के मन्दिर में सुनिये अनंद-भरे,
बीधे भव-फंद तहाँ कैसे जाइयतु है।
देवन के वृन्द में न पैये छीरसिंधु में,
सुगंगाजल-बिंदु में गुविंद पाइयतु है॥

१०—

लोचन असम, अंग भसम चिता की लाइ
तीनों लोक नायक सो कैसे कैं ठहरतो?

कहै पद्माकर विलोकि इमि ढंग जाके
वेदहु पुरान मान कैसे अनुसरतो ?
बाँधे जटा-जूट वैठि परवत कूट माहि,
महा कालकूट कहौ कैसे कै ठहरतो ?
पावै नित भंग, रहै प्रेतन के संगै ऐसे
पूछतो को नंगे जो न गंगे सीस धरतो ॥

११—

सूधे भये जे हैं नर गंगा के अन्हाइवे को
कामी बदनामी झामी कैयक करोर हैं।
कहै पद्माकर त्यों तिनकी अवाइन के
माचि रहे जोर सुरलोकन में सोर हैं ॥
बार-बार हाटसी लगाये लखैं घाट-घाट,
बाट हेरैं तीर में कबैधों तन बोर हैं।
एक ओर गरुड़, सुहंस एक ओर ठाढ़े,
एक ओर नांदिया विमान एक ओर हैं ॥

१२—

योगहू में, भोगमें, वियोगमें संयोगहूमें,
रागहू में, रस में न नैको बिसराइये।
कहै पद्माकर पुरी में पुन्य, रौरव में,
फैलन में फैलि-फैलि गैलन में गाइये ॥
बैरिन में, बन्धु में, विथा में, बंसवारन में,
विषय में रनहू में जहां-जहां जाइये।

सोचहू में मुख में सुरीमें साहिबी में कहूं
"गंगा-गंगा-गंगा" कहि जनम बिताइये ॥
(गंगा-लहरी)

ग्वाल

[संवत् १८४८—१९२८]

ग्वाल कवि की प्रतिभा-शक्ति कमाल की थी। कहते हैं कि यह एक समय में आठ काम कर लेते थे, जैसे ग्रन्थ रचना, कविता बनाना, शिष्यों को पढ़ाना, जगदम्बा जगदम्बा कहते रहना, शतरंज खेलना, अदृष्ट कथन करना, आगत पुरुषों से बातचीत का सिलसिला कायम रखना, समस्या पूर्ति करना आदि। महाराजा रणजीतसिंह इन का बड़ा आदर करते थे।

इन के रचित ग्रन्थों की संख्या ६०, ७० तक कही जाती है। इन की रचना बड़ी चमत्कारपूर्ण है।

षट् ऋतु वर्णन

सरसों के खेत की बिछायत वसंती बनी,

तामें खड़ी चांदनी वसंती रति कंत की।

सोने के पलंग पर वसन वसंती साज,

सोनजुही माले हाल हिय हुलसंत की।

ग्वाल कवि प्यारो पुखराजन को प्याला पूर,

प्यावत प्रिया को करे बात विलसंत की।

राग में वसंत बाग बाग में वसंत फूल्यो,

लाग में वसन्त क्या बहार है वसंत की॥१॥

—:o:—

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम,

गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी।

भीजे खस बीजन झले हूँ न सुखात स्वेद,

गात ना सुहात वात दावा सी डरापिनी।

ग्वाल कवि कहे कोरे कुंभन तें कूपन तें,

लै लै जलधार बार बार मुख थापिनी।

जब पियो तब पियो अब पियो फेर अब,

पीवत हू पीवत मिटै न प्यास पापिनी॥२॥

—:o:—

जेठ को न त्रास जाके पास ये विलास होंय,
खस के मवास पे गुलाव उछर्‍यो करै।
विही के मुरब्बे डब्बे चांदी के वरक भरे,
पेठे पाग केवरे में वरफ पर्‍यो करै।
ग्वाल कवि चन्दन चहल में कपूर चूर,
चंदन अतर तर वसन खर्‍यो करै।
कंज मुखी कंज नैनी कंज के विछौनन पे,
कंजन की पंखी कर कंज तें कर्‍यो करै॥३॥

—:o:—

तरल तिलंगन के तुङ्ग तेह तेजदार,
कान कदंब को कदंब सरसायो है।
सूवेदार मोर घोर दादुर हवालदार,
वग जमादार औ तंबूर पिक भायो है।
ग्वाल कवि वाढ़े गरराट घन घट्टन की,
कंपनी को कंपू झला होय छवि छायो है।
भूपत उमंगी कामदेव जोर ऊंगी जान,
मुजरा को पावस फिरंगी वनि आयो है॥४॥

—:o:—

मोरन के सोरन की नेको न मरोर रही,
घोरहूं रही न घन घने या फरद की।
अम्बर अमल सर सरिता विमल भल,
पंक को न अंक औ न उडनि गरद की।

ग्वाल कवि चित मैं चकोरन के चैन भये,
पंथिन की दूर भई दूखन दरद की।
जल पर थल पर महल अचल पर,
चांदी सी चमक रही चांदनी सरद की॥१॥

—:o:—

झर झर झांपैं वढ़े दर दर ढांपैं नापैं,
तऊ काँपैं थर थर वाजत वतीसी जाइ।
फेर पसमीनन के चौहरे गलीचन पै,
सेज मखमली सौरि सोऊ सरदी सी जाइ।
ग्वाल कवि कहैं मृगमद के धुकाये धूम,
ओढ़ि ओढ़ि छार भार आगहू छपी सी जाइ।
छाके सुरा सीसहू न सीसी पै मिटैगी कभू,
जौलौं उकसीसी छाती छाती सों न मीसी जाइ॥८॥

—:o:—

दीनदयाल गिरि

[संवत् १८५७ ?—१९२२]

गिरि जी सन्यासी थे। यह संस्कृत और भाषा के अच्छे विद्वान थे। यह गणेश जी के उपासक थे, परन्तु साम्प्रदायिक दुराग्रह इन्हें छुआ न था। स्वभाव अत्यन्त सरल और विनोदप्रिय था। ये बात बात में लोकोक्तियों का प्रयोग करके लोगों को खूब हँसाते थे। बड़े दयावान थे। दूसरे का दुःख नहीं देख सकते थे।

बाबा दीनदयाल के ग्रन्थों से यह पता चलता है कि ये उच्च श्रेणी के कवि थे। इन के बनाये पांच ग्रन्थ प्राप्य हैं, जिन में "अनुराग बाग" और "अन्योक्ति—माला" प्रसिद्ध हैं। गिरि जी की अन्योक्तियां बड़ी ही अनूठी हैं। इन की कविता की भाषा और भाव दोनों सरस और स्वच्छ हैं।

कुंडलियाँ

(सुमन)

प्यारे, करै गुमान जनि, सुनि प्रसून सिख मोरि।
तो समान यहि बागमें फूल झरहै कोरि॥
फूल झरैहैं कोरि, वहोरि किते विनसैहैं।
या वहारि दिन चारि गये फिर ग्रीषम ऐहैं॥
बरनै दीनदयाल, न करि सारंगहि न्यारे।
तो गुन जाननिहार बड़े हितकारक प्यारे॥

(कमल)

हारो है हे कंज, फाँसि चंचरीक तुम माहिं।
याकों नीके राखिए, दुखित कीजिए नाहिं॥
दुखित कीजिए नाहिं, दीजिए रस धरि आगे।
सखे, रावरे हेत सबै इन सौरभ त्यागे॥
बरनै दीनदयाल, प्रेम को पैंड़ो न्यारो।
वारिज बँध्यो मिलिंद दारु को वेधनिहारो॥

(भ्रमर)

सेमर में भरमैं कहा, ह्यां अलि कछू न वास।
कमल मालती माधवी सेइ न पूरी आस॥

सेइ न पूरी आस वास वन खोजनहारो।
सुरसरि वारि विहाय स्वाद चाहै जल खारो॥
बरनै दीनदयाल कहा षटपद, ये करमैं।
हैं पद पसुते ह्यौढ़ रमै ताते सेमर में॥

(सिंह)

टूटे नख-रद केहरी! वह बल गयो थकाय।
हाय जरा अब आय के यह दुख दयो बढ़ाय॥
यह दुख दयो बढ़ाय, चहूं दिसि जंबुक गाजैं।
ससक लुंबरी आदि सुतंत्र करैं बनराजैं॥
बरनै दीनदयाल, हरिन बिहरैं सुख लूटैं।
पंगु भयो मृगराज, आज नख-रदके टूटैं॥

(सौदागर)

सौदागर, तू समुझि के सौदा करि यहि हाट।
जैहै उठि दिन दोय मैं, पछितैहै फिरि बाट॥
पछितैहै फिरि बाट, वस्तु कछु भली न लीनी।
यौंही लंपट होय खोय सब संपति दीनी॥
बरनै दीनदयाल, कौन विधि ह्वैहै आदर।
गये आपने देस बिना सौदा सौदागर॥

सोई देस विचार के, चलिये पथी सुचेत।
जाके जस आनन्द की, कविवर उपमा देत॥

कविवर उपमा देत, रङ्क भूपति सम जामें ।
आवागव ना होय, रहै मुद मङ्गल तामें ॥
बरनै दीनदयाल, जहाँ दुख सोक न होई ।
ए हो पथी प्रवीन, देस को जैयो सोई ॥

———

(पथिक)

कोई संगी नहिं उतै, है इतही को संग ।
पथिक, लेहु मिलि ताहि तें सब सों सहित उमंग ॥
सब सों सहित उमंग बैठि तरनी के माहीं ।
नदिया-नाव-सँयोग फेरि यह मिलिहै नाहीं ॥
बरनै दीनदयाल, पार पुनि भेंट न होई ।
अपनी-अपनी गैल पथी जैहैं सब कोई ॥

———

राही सोवत इत किते, चोर लगे चहुँ पास ।
तो निज धन के लेन को, गिनैं नींद की स्वांस ॥
गिनैं नींद की स्वांस, पास बसि तेरे डेरे ।
लिये जात बनि मीत, माल ये साँझ सबेरे ॥
बरनै दीनदयाल, न चीन्हत है तू ताही ।
जाग जाग रे जाग, इतै कित सोवत राही ॥

(निर्वेद)

काकों पाती हौं लिखौं, कापै कहौं संदेस।
जे जे गे ते नहिं फिरे, वहि पीतम के देस॥
वहि पीतम के देस, बड़ो अचरज या भासै।
कहूं न तम को लेस, तहाँ बहु भानु प्रकासै॥
बरनै दीनदयाल, जहां नित मोद मवासों।
जन्मादिक दुख दुन्द नहीं, चर कहिए का सों॥

पति की संगति री सती, लै सुगती यहि आगि।
धरे सिंधोरा कर परे, अब दै डगमग त्यागि॥
अब दै डगमग त्यागि, भागि जनि, चेत चिता कों॥
जरे मरे सिधि पाव कलंक न लाव पिता कों॥
बरनै दीनदयाल, बात यह नीकी मति की।
सुजस लोक-परलोक, श्रेय लै संपति पति की॥

(क्षत्री)

पैहौ कीरति जगत में, पीछे धरो न पाँव।
क्षत्री कुल के तिलक हे, महा समर या ठाँव॥
महा समर या ठाँव, चलें सर कुन्त कृपानैं।
रहे वीर गन गाजि, धीर उर मैं नहिं आनैं॥
बरनै दीनदयाल, हरखि जौ तेग चलैहौ।
ह्वैहौ जीते जसी, मरे सुरलोकहि पैहौ॥

हिन्दी कवितावली

दूसरा भाग

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

[संवत् १९०७—१९४२]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने समय के सर्वप्रिय विद्वान और सुकवि थे। उन के विचार उदार और परिमार्जित थे। स्वभाव सरल, प्रेमपूर्ण और निष्कपट था। कवियों और विद्वानों का खूब आदर करते थे। दानवीर एक ही थे। जीवित तो वह थोड़े ही समय तक रहे, किन्तु इस अल्प काल में काव्य, नाटक तथा सामयिक कृतियों से हिन्दी-साहित्य को सम्पन्न करके सदा के लिये अजर-अमर हो गये। इन्होंने सब मिलाकर १७५ ग्रन्थ लिखे। नाटक के जन्मदाता माने जाते हैं। हिन्दी कविता के इतिहास में बाबू जी का बड़ा ऊंचा स्थान है। इन के समय से हिन्दी काव्य में एक नवीनता और आधुनिकता आ गई है। इन से पहिले हिन्दी कविता अधिकतर शृङ्गार रस से भरी होती थी, अब इस पर राष्ट्रीयता और प्रकृति-सौंदर्य का रंग चढ़ने लगा है। भाषा क्षेत्र में भी बाबू जी ने क्रान्तिकारी का काम किया है। उन की कविता ब्रजभाषा और खड़ी बोली का मिश्रित रूप है। इस में सन्देह नहीं कि जब तक हिन्दी-भाषा रहेगी, तब तक भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का भी नाम रहेगा।

यमुना-वर्णन

(१)

तरनि तनूजा तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाये॥
किधौं मुकुर मैं लखत उझकि सब निज-निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल-लोभा॥
मनु आतप वारन तीरको सिमिटि सबै छाये रहत।
कै हरि-सेवा हित नै रहे, निरखि नैन मन सुख लहत॥

(२)

कहूं तीर पर कमल अमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन मध्य कुमुदिनी लगि रही पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखत निज सोभा।
कै उमगे प्रिय-प्रिया-प्रेम के अनगिन गोभा॥
कै करिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥

(३)

कै पिय-पद-उपमान जानि एहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृंगन मिसि अस्तुति उच्चारत॥
कै ब्रज तिय-गन-बदन-कमल की झलकत झाईं।
कै ब्रज-हरि-पद-परस-हेत कमला बहु आईं॥

कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रज-मंडल बगरे फिरत।
कै जानि लक्ष्मी-भौन एहि करि सतधा निजजल धरत॥

(४)

तिन पै जेहि छिन चंद जोति राका निसि आवति।
जल में मिलि कै नभ अवनी लौं तान तनावति॥
होत मुकुरमय सबै तबै उज्वल इक ओभा।
तन मन नैन जुड़ात देखि सुन्दर सो सोभा॥
सो को कवि जो छबि कहि सकै ताछन जमुना नीर की?
मिलि अवनि और अम्बर रहत छबि इकसी नभ तीर की॥

(५)

परत चंद्र-प्रतिबिम्ब कहुं जल मधि चमकायो।
लोल लहर लहि नचत कबहुँ सोई मन भायो॥
मनु हरि दरसन-हेत चंद जल बसत सुहायो।
कै तरंग कर मुकुर लिये सोभित छबि छायो॥
कै रास रमन में हरि-मुकुट-आभा जल दिखरात है।
कै जल उर हरि मूरति बसति, वा प्रतिबिम्ब लखात है॥

(६)

कबहुँ होत सतचंद कबहुँ प्रगटत दुरि भाजत।
पवन-गवन-बस बिंबरूप जल में बहु साजत॥
मनु ससि भरि अनुराग जमुन-जल लोटत डोलै।
कै तरंग की डोर हिंडोरन करति कलोलै॥

कै बाल गुड़ी नभ में उड़ी, सोहत इत उत धावती।
कै अवगाहत डोलत कोऊ ब्रज-रमनी जल आवती॥

(७)

मनु जुग पच्छ प्रतच्छ होत मिटि जात जमुन जल।
कै तारागन ठगन लुकत प्रगटत ससि अविकल॥
कै कालिन्दी नीर तरंग जिती उपजावत।
तितनोंही धरि रूप मिलन हित तासों धावत॥
कै बहुत रजत चकई चलाते, कै फुहार-जल उच्छरत।
कै निसिपति-मल्ल अनेक विधि, उठि, बैठत, कसरत करत॥

(८)

कूजत कहुँ कल हंस, कहूं मज्जत पारावत।
कहुँ कारंडव उड़त, कहूं जल कुक्कुट धावत॥
चक्रवाक कहुँ बसत, कहूं बक ध्यान लगावत।
सुक पिक जल कहुँ पियत, कहूं भ्रमरावलि गावत॥
कहुँ तट पर नाचत मोर बहु, रोर विविध पच्छी करत।
जलपान न्हान करि सुख भरे तट-सोभा सब जिय धरत॥

(९)

कहूं बालुका विमल सकल कोमल बहु छाई।
उज्जवल झलकत रजत सिढ़ी मनु सरस सुहाई॥
पियके आगम हेत पाँवड़े मनहुँ बिछाये।
रत्न-रासि करि चूर कूल पे मनु बगराये॥

मनु मुक्त माँग सोभित भरी स्याम नीर चिकुरन परासि ।
सतगुन छायो कै तीर में ब्रज-निवास लखि हिय हरासि ॥

(चन्द्रावली नाटिका)

———

गंगा छवि

नव-उज्ज्वल जलधार हारहीरक-सी सोहति।
विच-विच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनि पोहति॥
लोल-लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर-गन-मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥
सुभग-स्वर्ग-सोपान-सरिस सब के मन भावत।
दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत॥
श्रीहरि पद-नख-चन्द्रकान्त-मनि-द्रवित सुधारस।
ब्रह्म कमण्डल मण्डन भवखण्डन सुर-सरबस॥
सिव-सिर-मालति-माल भगीरथ नृपति-पुण्य-फल।
ऐरावत-गज-गिरि-पति-हिम-नग कण्ठहार कल॥
सगर-सुवन सठ-सहस परस जलमात्र उधारन।
अगनित धारा रूप धारि सागर संचारन॥
कासी कहँ प्रिय जानि ललकि भेंट्यो जग धाई।
सपने हूँ नहिं तजि रही अंकम लपटाई॥
कहूँ बँधे नव-घाट उच्च गिरिवर सम सोहत।
कहुँ छतरी कहुँ मढ़ी बढ़ी मन मोहत-जोहत॥
धवल धाम चहुँ ओर फहरत धुजा पताका।
घहरत घण्टा धुनि धमकत धौंसा करि साका॥

मधुरी नौवत बजत कहूँ नारी नर गावत।
वेद पढ़त कहुँ द्विज कहुँ जोगी ध्यान लगावत॥
कहुँ सुन्दरी नहात नीर कर जुगल उछारत।
जुग अम्बुज मिलि मुक्त गुच्छ मनु सुच्छ निकारत॥
धोवत सुन्दरि बदन करन अतिही छवि पावत।
वारिधि नाते ससि-कलङ्क मनु कमल मिटावत॥
सुन्दरि ससि मुख नीर मध्य इमि सुन्दर सोहत।
कमल-बेलि लहलही नवल कुसुमनि मन मोहत॥
दीठि जहीं जहं जाति रहति तितहीं ठहराई।
गङ्गा छवि 'हरिचन्द' कछू बरनी नहिं जाई॥

—('सत्य हरिश्चन्द्र' से)

पद

(१)

प्रभु हो ऐसा तो न विसारो।
कहत पुकारि नाथ तुव रूठे कहुँ न निवाह हमारो॥
जो हम बुरे होइ नहिं चूकत नित ही करत बुराई।
तौ फिर भले होइ तुम छोड़त काहे नाथ भलाई॥
जो बालक अरुझाइ खेल में जननी सुधि विसारवै।
तौ कह माता ताहि कुपित ह्वै ता दिन दूध न प्यावै॥
मात पिता गुरु स्वामी राजा जो न छमा उर लावै।
तौ सिसु सेवक प्रजा न कोउ विधि जग में निबहन पावै॥
दयानिधान कृपानिधि केशव, करुण, भक्त-भय-हारी।
नाथ न्याउ तजते ही बनि है 'हरीचंद' की वारी॥

---

(२)

रहे क्यों एक म्यान असि दोय।
जिन नैनन में हरि रस छायो तेहि क्यों भावै कोय॥
जा तन मन में रमि रहे मोहन तहाँ ज्ञान क्यों आवै।
चाहो जितनी बात प्रबोधो हाँ को जो पतियावै॥
अमृत खाय अब देखि इनारुन को मूरख जो भूले।
हरीचन्द ब्रज तो कदलीवन काटौ तो फिर फूले॥

---

(३)

पियारे याको नाँव नियाव।
जो तोहि भजै ताहि नहिं भजनों कीनो भलो बनाव॥
बिनु कछु किये जानि अपनो जन दूनो दुख तोहि देनो।
भली नई यह रीति चलाई उलटो अवगुन लेनो॥
हरीचन्द यह भलो निबेर्यो ह्वैके अंतरजामी।
चोरन छाँड़ि छाँड़ि कै डाँड़ो उलटो धन के स्वामी॥

---

(४)

जागो, जागो रे भाई;
सोवत निसि बैस गँवाई, जागो जागो रे भाई।
निसि की कौन कहै, दिन बीत्यो, कालराति चलि आई;
देखि परत नहिं हित-अनहित कछु परे बैरि-बस जाई।
निज उद्धार-पंथ नहिं सूझत, सीस धुनत पछिताई;
अबहूँ चेति पकरि राखो किन, जो कछु बची बड़ाई।
फिरि पछिताए कछु नहिं ह्वै है, रहि जैहौ मुँह बाई;
सोवत निसि बैस गँवाई, जागो, जागो रे भाई।

प्रतापनारायण मिश्र

[सम्वत् १९१३—१९५१]

मिश्र जी हिन्दी, उर्दू, फारसी और संस्कृत के विद्वान् थे। बाबू हरिश्चन्द्र की रचनाओं को यह विद्यार्थी-अवस्था से ही बड़े चाव से पढ़ते थे। इनका स्वभाव विनोदी था बड़े ही फक्कड़, मसखरे और प्रेमी थे। सामाजिक और धार्मिक बंधनों की यह अधिक परवा न करते थे। धर्मान्धता इन में न थी। इनका सिद्धांत था—'प्रेम एव परमोधर्मः'। स्वदेश प्रेमी भी बड़े थे। सन १८८३ में इन्हों ने "ब्राह्मण नामक एक मासिक पत्र निकाला था। 'ब्राह्मण' के लेख हास्य-रसमय, व्यंगपूर्ण और शिक्षाप्रद होते थे। यह पत्र कोई दस वर्ष तक चलता रहा। कुछ दिन मिश्र जी 'हिन्दोस्थान' पत्र के सहकारी संपादक रहे। बाबू हरिश्चन्द्र जी के अनुयायियों में इनका स्थान बहुत ऊंचा है। इन की रचना प्रभावमयी, सरस और हृदयग्राहिणी है। वस्तुतः इसी कारण से आप इतने प्रसिद्ध हैं।

इन्हों ने ३२ स्वतन्त्र और अनुवादित ग्रन्थ लिखे हैं।

—:o:—

गोरक्षा

गैया माता तुमको सुमरों कीरत सब ते बड़ी तुम्हारी।
करो पालना तुम लरिकन पै पुरिखन बैतरनी देउ तारी॥
तुम्हरे दूध दही की महिमा जानैं देव पितर सब कोय।
को अस तुम बिन दूसर जिहिका गोबर लगे पवित्तर होय॥१॥
जिन के लरिका खेती करिकै पालैं मनइन के परिवार।
ऐसी माइन की रच्छा माँ जो कुछ जतन करौ सो थ्वार॥
घास के बदले दूध पियावैं मरि के देंय हाड़ औ चाम।
धन वह तन मन धन जो आवै ऐसी जगदम्बा के काम॥२॥
आल्हा खण्ड की पोथी लै कै थाखी तनुक लिखा कस आय।
"जहाँ रोमैंयाँ है ऊदन के भुवरा मुगुल पछारै गाय॥"
को अस हिन्दु ते पैदा है जो अस हालु देखि इक साथ।
रकत के आँसुन रोय न उठिहै माथे पटकि दुहत्था हाथ॥३॥
सब दुख सुख तो जैसे तैसे गाइन की नाहिं सुनै गुहार।
जब सुधि आवै मोहिं गैयन की नैनन बहै रकत की धार॥
हियाँ की बातैं तो हियनैं रहिं अब कम्पू के सुनौ हवाल॥
जहाँ के हिन्दू तन मन धन से निस दिन करें धरम प्रतिपाल॥४॥

—:०:—

बुढ़ापा

हाय बुढ़ापा तोहरे मारे अब तो हम नकन्याय गयन।
करत धरत कछु बनतै नाहीं कहां जान औ कैस करन॥
छिन भरि चटक छिनै मां मद्धिम जस बुझात खन होय दिया।
तैसे निखवन देखि परत हैं हमरी अक्किल के लच्छन॥ १॥

अस कुछ उतरि जाति है जी तें बाजी बिरियां बाजी बात।
कैस्यो सुधि ही नाहीं आवति मूंड़ काहे न दै मारन॥
कहा चहौं कुछु निकरत कुछु है जीभ राड़ का है यहु हालु।
कोऊ इहि के बात न समझै चाहे बीसन दांय कहन॥२॥

दाढ़ी नाक याक मां मिलिगै बिन दांतन मुहुँ अस पोपलान।
दढ़िहि पर बहि-बहि आवति है कबौं तमाखू जो फांकन॥
बार पाकि गे रीरी झुकिगै मूँड़ी सासुर हालन लाग।
हाथ पांव कछु रहे न आपन केहि के आगे दुख खावन॥ ३॥

यही लकुटिया के बूते अब जस-तस डोलित-डोलित है।
जेहि का लैके बस कामन मां सदा खखारत फिरत रेहन।
जियत रहैं महाराज सदा जो हम पस्यन का पालत हैं।
नाहीं तो अब कौधौं पूँछै केहि के कौने काम के हन॥ ४॥

—:o:—

भजन

(१)

जागो भाई जागो रात अब थोरी ।

काल चोर नहिं करन चहत है जीवन धन की चोरी ॥

औसर चूके फिर पछितैहो हाथ मींजि सिर फोरी ।

काम करो नहिं काम न ऐहैं बातें कोरी कोरी ॥

जो कुछ बीती बीत चुकी सो चिन्ता ते मुख मोरी ।

आगे जामे बनै सो कीजै करि तन मन हठ ठौरी ॥

कोऊ काहू को नहिं साथी मात पिता सुत गोरी ।

अपने करम आपने संगी और भावना भोरी ॥

सत्य सहायक स्वामी सुखद से लेहु प्रीति जिय जोरी ।

नाहि तु फिर "परताप हरी" कोऊ बात न पूछहि तोरी ॥

(२)

साधो मनुवाँ अजब दिवाना ।

माया मोह जनम के ठगिया तिन के रूप भुलाना ॥

छल परपंच करत जग धूनत दुख को सुख करि माना ।

फिकिर तहाँ की तनिक नहीं है अंत समय जहं जाना ॥

मुख ते धरम धरम गोहरावत करम करत मनमाना ।

जो साहब घट घट की जाने तेहि तैं करत बहाना ॥

तेहि ते पूछत मारग घर को आपहि जौन भुलाना।
'हियाँ कहां सज्जन कर बासा' हाथ न इतनै। जाना॥
यहि मनुवाँ के पीछे चलि के सुख का कहाँ ठिकाना।
जो "परताप" सुखद को चीन्हे सोई परम सयाना॥

—:o:—

नाथूराम 'शङ्कर' शर्मा

[संवत् १९१६—१९८९]

शंकर जी को कविता करने का शौक कोई तेरह साल की अवस्था से था। पहिले यह ब्रजभाषा में कविता करते थे, पीछे खड़ी बोली में करने लगे। खड़ी बोली को इन्हों ने अच्छा परिमार्जित कर दिया है। भाषा में रौद्र और प्रांजल दोनों रूपों के दर्शन होते हैं। घनाक्षरी छन्द का प्रवेश खड़ी बोली में इन्हीं के द्वारा हुआ। इन की रचनाओं में मौलिकता पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। इनकी सी प्रतिभा विरलों में मिलती है। मिनटों में अच्छी कविता कर डालते थे। समस्यापूर्ति—चाहे जिस रस में कहिये—यह बात की बात में कर सकते थे। शर्माजी आर्य समाजी थे। अतएव इनकी कविताएं प्रायः समाज सबन्धी ही होती थीं। कुरीति खंडन पर आप की कविताएं बड़ी ही प्रभावोत्पादिनी होती थीं।

आप का स्वभाव बड़ा सरल था। मिलनसार भी आप एक ही थे। इन में हंसमुखता, सच्चाई और स्पष्टवादिता प्रसिद्ध गुण थे। हरदुआगंज में यह अच्छे वैद्य समझे जाते थे।

—:o:—

रंक-रोदन

क्या शंकर प्रतिकूल काल का अंत न होगा ?
क्या मंगल से मेल मृत्युपर्यन्त न होगा ?
क्या अनुभूत दरिद्र-दुःख अब दूर न होगा ?
क्या दाहक दुर्दैव-कोप कर्पूर न होगा ॥१॥

होकर मालामाल पिता ने नाम किया था।
मैंने उसके साथ न घर का काम किया था॥
विद्या का भरपूर अटल अभ्यास किया था॥
पर औरों की भांति न कुछ भी पास किया था॥२॥

उद्यम की दिन रात कमान चढ़ी रहती थी।
यश के शिर पर वर्ण-उपाधि मढ़ी रहती थी॥
दान-मान की ज्योति अखंड जगी रहती थी।
भिखमंगों की भीड़ सदैव लगी रहती थी ॥३॥

जीवन का फल पूज्य पिता जी पाय चुके थे।
कर पूरे सब काम कुलीन कहाय चुके थे ॥
सुंदर स्वर्ग समान विलास विसार चुके थे।
हम सब उनका अंत अनंत निहार चुके थे ॥४॥

बांध बाप की पाग बना मुखिया घर का मैं।
केवल परमाधार रहा कुम्बे भर का मैं ॥

सुख से पहिली भांति निरंकुश रहता था मैं।
　　क्या करता है कौन, न कुछ भी कहता था मैं, ॥५॥
जिनका संचित कोश खिलाया-खाया मैंने ॥
　　करके उनकी होड़ न द्रव्य कमाया मैंने ॥
लूट रहे थे लोग, न छल पहचाना मैंने।
　　घाटे का परिणाम कठोर न जाना मैंने ॥६॥
बिगड़े चाकर चोर पुरानी बान बिगाड़ी।
　　दिया दिवाला काढ़, बनी दूकान बिगाड़ी ॥
आधे दाम चुकाये बड़ों की बात बिगाड़ी।
　　मुझ से किया बिगाड़, न अपनी घात बिगाड़ी ॥७॥
अटके डिगरीदार, किसी ने दाम न छोड़े।
　　छीन लियो धन धाम ग्राम, आराम न छोड़े।
हाय! किसी के पास विभूषण-वस्त्र न छोड़े।
　　नाम रहा निरुपाधि, पुलिस ने शस्त्र न छोड़े ॥८॥
न्यायालय में जाय दरिद्र कहाय चुका हूँ।
　　सब देकर 'इनसालवेंट' पद पाय चुका हूँ॥
अपने घर की आप विभूति उड़ाय चुका हूँ।
　　सर्वनाश से हाय न पिंड छुड़ाय चुका हूं ॥९॥
बैठ रहे मुख मोड़ पुराने आने वाले।
　　लेते नहीं प्रणाम लूट कर खाने वाले ॥
देते हैं दुर्वाद बड़ाई करने वाले।
　　लड़ते हैं बिन बात झड़ी पर मरने वाले ॥१०॥

कविता-प्रेमी लोग न अब 'सत्कवि' कहते हैं ।
हा ! न विज्ञ विज्ञान-गगन का रवि कहते हैं ॥
धर्मधुरंधर धीर नहीं गुरुजन कहते हैं ।
मुझ को सब कंगाल धना-निर्धन कहते हैं ॥ ११ ॥
वित्त विना विख्यात विरद विपरीत हुआ है ।
मन मेरा निश्शंक महा भयभीत हुआ है ॥
कंगाली की मार पड़ी, रस भंग हुआ है ।
जीवन का मग हाय विधाता ! तंग हुआ है ॥ १२ ॥
प्रतिभा को प्रतिवाद प्रचंड लताड़ चुका है ।
आदर को अपमान पिशाच पछाड़ चुका है ॥
पौरुष का शिर नीच निरुद्यम फोड़ चुका है ॥
हाय ! हर्ष का रक्त विषाद निचोड़ चुका है ॥ १३ ॥
दरसे देश उदास, जाति अनुकूल नहीं है ।
शत्रु करें उपहास, मित्र सुखमूल नहीं है ॥
छूटे नातेदार, किसी से मेल नहीं है ।
घर में हाहाकार, खुशी का खेल नहीं है ॥ १४ ॥
मंगल को रिपु घोर अमंगल घेर रहा है ।
हास त्रास के बीज विनाश बखेर रहा है ॥
दीन मलीन कुटुम्ब कर्म को कोस रहा है ।
मेरा कण्ठ अदम्य दरिद्र मसोस रहा है ॥ १५ ॥
दुखड़ों की भरमार, यहां सुखसाज नहीं है ।
किसका गोरस-भात, पिसान अनाज नहीं है ॥

चिथड़ा भी भरपूर किसी के पास नहीं है।
कुम्बे भर में कौन अधीर उदास नहीं है ॥ १६ ॥
बालक चोखे खान पान पर अड़ जाते हैं।
खेल-खिलौने देख पिछाड़ी पड़ जाते हैं॥
पर मनमानी वस्तु बिना बस रह जाते हैं।
हाय ! हमारे काढ़ कलेजे सो जाते हैं ॥ १७ ॥
सिरसे संकट-भार उतार न लेगा कोई।
मुझ को एक छदाम उधार न देगा कोई॥
करुणा कर कुलवीर कृपा न करेगा कोई।
हम दीनों का पेट न हाय भरेगा कोई ॥ १८ ॥
फूल-फूल कर फूल फली फल खाने वाले।
नानां व्यंजन पाक प्रसादी पाने वाले॥
दूध रसाला आदि सुधारस पीने वाले।
हाय ! बने हम शाक-चनों पर जीने वाले ॥ १९ ॥
घर में कुरते कोट सलूके सिल जाते हैं।
बाहर से दो-चार टके बस मिल जाते हैं॥
जो कुछ पैसे हाथ हमारे आ जाते हैं।
उन सब का सामान मँगाकर खा जाते हैं ॥ २० ॥
लड़के लड़की बीन-बीन कर ला देते हैं।
ईंधन भर का काम अवश्य चला देते हैं॥
वृद्ध चचा दो-तीन बार जल भर देते हैं।
मांग मांग कर छाछ महेरी कर देते हैं ॥ २१ ॥

छप्पर में बिन बांस घुने ऐरंड पड़े हैं।
बरतन का क्या काम, घने घटखंड पड़े हैं॥
खाट कहां, छै-सात फटे-से टाट पड़े हैं।
चक्की पीसे कौन, बिना भिड़ पाट पड़े हैं॥ २२॥
जाड़े का प्रतियोग न उष्ण-विलास मिलेगा।
गरमी का प्रतिकार न शीतल वास मिलेगा॥
घेर रही बरसात, न सूखा ठौर मिलेगा।
इस खँडहर को छोड़ कहां घर और मिलेगा॥ २३॥
कर-कर केहरि-नाद बलाहक बरस रहे हैं।
अस्थिर विद्युद् दृश्य दसों दिस दरस रहे हैं॥
गँदला पानी छेद छत्त के छोड़ रहे हैं।
इन्द्रदेवजी टांग त्राण की तोड़ रहे हैं॥ २४॥
दिया जले किस भांति, तेल को दाम नहीं है।
काटें मच्छर डांस, कहीं आराम नहीं है॥
टूट पड़े दीवार, यहां संदेह नहीं है।
करदे पनियाढार, नहीं तो मेह नहीं है॥ २५॥
बीत गई अब रात, अँधेरा दूर हुआ है।
संकट का कुछ हाय न चकनाचूर हुआ है॥
आज तीसरा रुद्ररूप उपवास हुआ है।
हा! हम सब का घोर नरक में वास हुआ है॥ २६॥
हिन्दूपन के पंथ-मतों में मेल नहीं है।
सत्य सनातन धर्म कपट का खेल नहीं है॥

शिष्टों का सत्कार कहीं अवशिष्ट नहीं है।
धोखा देकर माल उठाना इष्ट नहीं है॥ २७॥
वैदिक दल में दान-मान कुछ भी न मिलेगा।
प्रतिदिन तीन छटांक हवन को घी न मिलेगा॥
कर्महीनता देख पुण्य-परिषद न मिलेगा।
रोटी-दाल समेत 'महाशय' पद न मिलेगा॥ २८॥
सामाजिक बल पाय फूल-सा खिल सकता हूँ।
योग समाधि लगाय ब्रह्म से मिल सकता हूँ॥
धर्म धार संसार-सिंधु से तर सकता हूँ।
हा! पर वस्त्राहार बिना क्या कर सकता हूँ॥ २६॥
जो जगती पर बीज पाप के बो न सकेगा।
जिसका साहस सत्य धर्म को खो न सकेगा॥
जो विधि के विपरीत कभी कुछ कर न सकेगा।
रो रो कर वह रंक कहां तक मर न सकेगा॥ ३०॥

(पद्य संग्रह)

याचना

जाति को जीवन दो, भगवान!

आशा का अंकुर उपजा दो, परहित का पीयूष पिला दो;
सेवा का सन्मार्ग सुझा दो, साहस का सोपान—
जाति को जीवन दो, भगवान!

प्रेम एकता का वर-वर दो, ज्ञान उजाला घर-घर कर दो;
कूट-कूट हृदयों में भर दो, 'स्वाभिमान सम्मान'—
जाति को जीवन दो, भगवान!

दलितों के अधिकार दिला दो, बिछुड़ों को फिर गले लगा दो;
भेद भाव का भूत भगा दो हों सब लोग समान—
जाति को जीवन दो भगवान

विधवादल के संकट टारो, गोकुल के कुल क्लेश निवारो;
बल हीनों में बल संचारो, निर्भय करो निशान—
जाति को जीवन दो भगवान!

देश भक्ति की ज्योति जगा दो, धर्म धाम का द्वार दिखा दो;
कर्मवीर बनना बतला दो, कर दयालुता दान—
जाति को जीवन दो, भगवान!

—:o:—

श्रीधर पाठक

[संवत् १९१६—१९८५]

पाठक जी अंगरेजी, संस्कृत तथा हिन्दी के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने खड़ी बोली तथा व्रजभाषा दोनों ही में उत्तम कविता की है। यह बड़े मिलनसार, सरस-हृदय और आनन्दी पुरुष थे। प्राकृतिक-सौंदर्य के बड़े प्रेमी थे। इनकी कविता पढ़ने से पता लगता है कि सृष्टि-सौंदर्य का अध्ययन इन्होंने बड़े मनोयोग से किया था। आप का जीवन ही कविता-मय था। आप की कविताओं में मौलिकता बहुत अधिक होती है। पद-मैत्री तो बड़ी ही सरस और ललित होती है। आप के 'भारतगीत' राष्ट्रीय जगत में अनुपम समझे जाते हैं। 'ऊजड़ ग्राम' 'एकांतवासी योगी' तथा 'श्रांत पथिक' आदि अंगरेजी से हिन्दी में रूपांतरित खण्ड-काव्य हैं जो आप के प्रकाण्ड पाण्डित्य का प्रदर्शन कराते हैं।

आप हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के पांचवें अधिवेशन के सभापति बनाये गये थे।

बन-शोभा

चारु हिमाचल आँचल में इक साल विसालन कौ बन है।
मृदु मर्मर शील झरैं जल-स्रोत हैं पर्वत ओट है निर्जन है॥
लिपटे हैं लता द्रुम, गान में लीन प्रवीन विहंगम कौ गन है।
भटक्यौ तहां रावरौ भूल्यौ फिरै,मद बावरौ सो अलि कौ मन है॥

भारत में बन! पावन तूही, तपस्वियों का तप-आश्रम था।
जग-तत्व की खोज में लग्न जहां ऋषियों ने अभग्न किया श्रम था॥
जब प्राकृत विश्व का विभ्रम और था,सात्विक जीवन का क्रम था।
महिमा बनवास की थी तब और प्रभाव पवित्र अनूपम था॥

—:०:—

सान्ध्य-अटन

विजन वन-प्रान्त था प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था, रजनी का उदय था॥
प्रसव के काल की लालिमा में लिहसा,
बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य-उत्फुल्ल, अरविन्द-निभ नील सुवि—
शाल नभ-वक्ष पर जा रहा था चढ़ा॥
दिव्य दिनारि की गोद का लाल-सा
या प्रखर भूख की यातना से प्रहित
धारणा रक्त-रस-लिप्सु, अन्वेषणा-
युक्त या क्रीड़नासक्त, मृगराज शिशु
या अतिव क्रोध-सन्तप्त जैमन्य नृप-
सा कि या अभ्र-बैलून उर में छिपा
इन्द्र, या इन्द्र का छत्र या ताज या
स्वर्ग्य गजराज के भाल का साज या
कर्ण उत्ताल, या स्वर्ण का थाल सा--
कभी यह भाव था, कभी वह भाव था।
देखने का चढ़ा चित्त में चाव था॥
विजय वन शान्त था, चित्त अभ्रान्त था।
रजनि-आनन अधिक हो रहा कान्त था॥

स्याल-उत्थान के साथ ही चन्द्र-मुख
भी समुज्ज्वल लगै था अधिकतर भला।
उस विमल विम्ब ने अनति ही दूर, उस
समय इक व्योम में विन्दु-सा लख पड़ा
स्याह था रंग, कुछ गोल मति डोलता
किया अति रंग में भंग उसने खड़ा,
उतरते-उतरते आ रहा था उधर
जिधर को शून्य सुनसान थल था पड़ा।
आम के पेड़ से थी जहाँ दीखती
प्रेम-आलिंगिता मालती की लता
बस उसी वृक्ष के सीस की ओर कुछ
खड़खड़ाकार एक शब्द-सा सुन पड़ा
साथ ही पंख की फड़फड़ाहट, तथा
शत्रु निःशंक की कड़कड़ाहट, तथा
पत्तियों में पड़ी हड़बड़ाहट, तथा
कंठ और चोंच की चड़चड़ाहट, तथा
आर्ति-युत कातर स्वर, तथा शीघ्रता
युत उड़ाहट भरा दृश्य इस दिव्य-छवि
लुब्ध दृग युग्म को घृणित अति दिख पड़ा।
चित्त अति चकित अत्यन्त दुःखित हुआ॥

———

महावीर प्रसाद द्विवेदी

[सम्वत् १९२१—]

द्विवेदी जी बड़े प्रसिद्ध कवि, सम्पादक और समालोचक हैं। वर्तमान हिन्दी साहित्य-विटप की गद्य और पद्य दोनों शाखाओं के उन्नायकों एवं विधायकों में प्रमुख हैं। खड़ी बोली की कविता की आप के सम्पादन काल में "सरस्वती" पत्रिका द्वारा बहुत उन्नति हुई है। आप का अंगरेजी, संस्कृत, उर्दू, फारसी, मराठी, बंगला, गुजराती आदि भाषाओं में अच्छा अधिकार है। इन्होंने अंगरेजी, संस्कृत और बंगला से कई उपयोगी पुस्तकों का अनुवाद किया है। कई स्वतंत्र पुस्तकें लिखीं और कई ग्रंथों पर साहित्यक समालोचनाएं प्रकाशित कीं।

द्विवेदी जी का जीवन धन्य है। हिन्दी को आप की सेवाओं पर गर्व है। इस समय आप विश्रान्ति ले कर अपनी जन्मभूमि दौलतपुर (यू० पी०) में रहते हैं। सारा समय पढ़ने लिखने में बिताते हैं। इसी से इन का स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता। इन के स्वभाव में विरक्तभाव अधिक है, सभा-समितियों में बहुत कम सम्मिलित होते हैं।

विचारणीय बातें

मैं कौन हूं ? किस लिये यह जन्म पाया ?
क्या क्या विचार मन में किसने पठाया ?
माया किसे, मन किसे, किस को शरीर,
आत्मा किसे कह रहे सब धर्मधीर ? ॥१॥

क्यों पाप-पुण्य-पचड़ा जगबीच छाया ?
माया-प्रपंच रच क्यों सब को भुलाया ?
आया मनुष्य फिर अन्त कहां सिधारे ?
ये प्रश्न क्यों न जड़ जीव सदा विचारे ? ॥२॥

नाना प्रकार जग में जन जन्म पाते।
पी तथा नित यथा-विधि खाद्य खाते॥
तो भी सदैव मरते सब जीवधारी।
क्यों अल्पकालिक हुई फिर सृष्टि सारी ? ॥३॥

क्या वस्तु मृत्यु जिस के भय से विचारे
होते प्रकम्प-परिपूर्ण मनुष्य सारे ?
क्या बाघ है ? विशिख है ? अहि है विषारी ?
किं वा विशाल तम तोप हड़ाङ्गधारी ? ॥४॥

पृथ्वी–समुद्र–सरिता–नर–नाग–सृष्टि।
माङ्गल्य-मूल-मय वारिद वारि-वृष्टि ॥

कर्तार कौन इन का ? किस हेतु नाना—
व्यापार भार सहता रहता महाना ? ॥५॥
विस्तीर्ण विश्व रच लाभ न जो उठाता।
स्रष्टा समर्थ फिर क्यों उसको बनाता ?
जो हानि लाभ कुछ भी उस को न होता।
तो मूल्यवान फिर क्यों निज काल खोता ?॥६॥
कोई सदैव सुख युक्त करे विहार।
कोई अनेक विधि दुःख सहे अपार।
जो भेद-भाव सब में यह विद्यमान।
क्या बीज-वस्तु उसकी जग में प्रधान ?॥७॥
तेजोनिधान रविबिम्ब सुदीप्ति धारी।
आह्लादकारक शशी निशि-ताप-हारी।
जो यह प्रकाशमय पिण्ड गये बनाये।
तो व्योम बीच कब ये किस भाँति आये ? ॥८॥
क्यों एक देश सहसा बल बुद्धि पाता ?
क्यों अन्य दीर्घ दुख-सागर में समाता ?
ये खेल कौन ? किस कारण खेलता है ?
क्यों नित्य सुख में दुख मेलता है ? ॥९॥
ये है महत्व—परिपूरित प्रश्न सार।
एकान्त जो नर करें इनका विचार।
होवें अवश्य जो जग में महान।
सज्ञान और वर-बुद्धि विवेकवान ॥१०॥

———

आर्यभूमि

जहां हुए व्यास मुनि-प्रधान,
रामादि राजा अति कीर्तिमान।
जो थी जगत्पूजित धन्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्यभूमि ॥१॥

जहां हुए साधु महा महान,
थे लोग सारे धन-धर्मवान।
जो थी जगत्पूजित धर्म-भूमि,
वही हमारी यह आर्यभूमि ॥२॥

जहां सभी थे निज धर्मधारी,
स्वदेश का था अभिमान भारी।
जो थी जगत्पूजित पूज्यभूमि,
वही हमारी यह आर्यभूमि ॥३॥

हुए प्रजापाल नरेश नाना,
प्रजा जिन्हों ने सुततुल्य जाना।
जो थी जगत्पूजित सौख्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्यभूमि ॥४॥

वीरांगना भारत भामिनी थीं।
वीरप्रसू भी कुलकामिनी थीं।

जो थी जगत्पूजित वीर-भूमि,
वही हमारी यह आर्यभूमि ॥५॥
स्वदेश सेवा जन लक्ष-लक्ष,
हुए जहां हैं निज कार्य-दक्ष।
जो थी जगत्पूजित कार्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्यभूमि ॥६॥
स्वदेश-कल्याण सुपुण्य जान,
जहां हुए यत्न सदा महान।
जो थी जगत्पूजित पुण्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्यभूमि ॥७॥
न स्वार्थ का लेश ज़रा कहीं था,
देशार्थ का त्याग कहीं नहीं था।
जो थी जगत्पूजित श्रेष्ठ-भूमि,
वही हमारी यह आर्यभूमि ॥८॥
कोई कभी धीर न छोड़ता था,
न मृत्यु से भी मुँह मोड़ता था।
जो थी जगत्पूजित धैर्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्य-भूमि ॥९॥
स्वदेश के शत्रु स्व-शत्रु माने,
जहां सभी ने शर चाप ताने।
जो थी जगत्पूजित शौर्य भूमि,
वही हमारी यह आर्यभूमि ॥१०॥

विभिन्न थे वर्ण तथापि सारे,
थे एकताबद्ध जहां हमारे ।
जो थी जगत्भूमि ऐक्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्यभूमि ॥११॥

थी मातृ भूमि प्रति भक्ति भारी,
जहां हुए शूर यशोऽधिकारी ।
जो थी जगत्पूजित कीर्ति-भूमि,
वही हमारी यह आर्य-भूमि ॥१२॥

दिव्यास्त्र-विद्या वल, दिव्य यान,
छाया जहां था अति दिव्य ज्ञान ।
जो थी जगत्पूजित दिव्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्यभूमि ॥१३॥

नये-नये देश जहां अनेक,
जीते गये थे नित एक-एक ।
जो थी जगत्पूजित भाग्य-भूमि,
वही हमारी यह आर्यभूमि ॥१४॥

विचार ऐसे जब चित्त आते,
विषाद पैदा करते सताते ।
न क्या कभी देव दया करेंगे,
न क्या हमारे दिन भी फिरेंगे ?॥१५॥

———

कर्तव्य

दुर्भिक्ष राक्षस जहां सब को सताता।

लाखों मनुष्य यह प्लेग कृतान्त खाता॥

नाना विपत्ति-अभिभूत प्रजा जहां है।

कर्त्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहां है? ॥१॥

आरोग्य-युक्त बल-युक्त सपुष्ट गाता।

ऐसा जहां युवक एक न दृष्टि आता॥

सारी प्रजा निपट दीन दुखी जहां है।

कर्त्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहां है? ॥२॥

पाता न शिक्षण जहां शिशु-वृन्द सारा

बाला-समूह सब मूर्ख जहां हमारा॥

नाना कला कुशलता न कहीं जहां है।

कर्त्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहां है? ॥३॥

है भूतकाल सब स्वप्न-कथा-समान।

चिन्ता-निमग्न निशिवासर वर्तमान॥

नैराश्यपूर्ण अगली गति भी जहां है।

कर्त्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहां है? ॥४॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय

[संवत् १९२२—]

उपाध्याय जी हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ आचार्य एवं महाकवि हैं। इन दिनों आप हिन्दु-विश्व-विद्यालय बनारस में हिन्दी-साहित्य के प्रोफेसर हैं। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के सभापति का आसन भी आप सुशोभित कर चुके हैं। संस्कृत, फारसी, उर्दू, अंगरेजी और बंगला के विद्वान हैं। गद्य और पद्य दोनों ही में आप उत्तम रचना करते हैं। इन का लिखा हुआ अतुकान्त महाकाव्य "प्रियप्रवास" इन की प्रतिभा का उज्वल प्रमाण है। "प्रियप्रवास" के बाद इन्होंने रोजमर्रा की बोलचाल में दो पद्य पुस्तकें और लिखीं—चोखे चौपदे और चुभते चौपदे। इन दोनों में हिन्दी के मुहावरों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। इन का लिखा हुआ 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' सिविल-सर्विस परीक्षा के कोर्स में है।

उपाध्याय जी पहिले ब्रजभाषा में कविता लिखा करते थे, अब खड़ी बोली में लिखते हैं। ब्रजभाषा में भी इनकी कविताएं बड़ी ही ललित हुई हैं। आप की समस्त कृतियों का हिन्दी संसार में बड़ा मान है।

आप बड़े सहन-शील और न्यायप्रिय हैं। यद्यपि सनातन-धर्मावलम्बी हैं, पर अन्ध-परम्परा के पक्षपाती नहीं हैं। पतितोद्धार, बालविधवा-विवाह आदि के हिमायती हैं। समाज सेवा का भाव इन में पूर्ण रूप से है।

यशोदा विलाप

प्रिय पति, वह मेरा प्राणप्यारा कहां है।
दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहां है॥
लख मुख जिस का मैं आज लौं जी सकी हूं,
वह हृदय हमारा नैन-तारा कहां है ॥१॥
पल पल जिस के मैं पन्थ को देखती थी।
निशिदिन जिस के ही ध्यान में थी बिताती॥
उर पर जिस के है सोहती मुक्तमाला,
वह नवनलिनी से नैन वाला कहां है ॥२॥
मुझ विजित-जरा का एक आधार जो है।
वह परम अनूठा रत्न सर्वस्व मेरा॥
धन मुझ निधनी का लोचनों का उजाला,
सजल जलद की-सी कान्ति वाला कहां है॥३॥
प्रतिदिन जिस को मैं अङ्क में नाथ लेके।
निज सकल कुअंकों की क्रिया कीलती थी॥
अति प्रिय जिस को है वस्त्र पीला निराला,
वह किसलय के से अङ्ग वाला कहां है ॥४॥
वर वदन विलोके फुल्ल अंभोज-ऐसा,
करतल गत होता व्योम का चंद्रमा था॥

मृदु रव जिस का है रक्त सूखी नसों का,
वह मधुमयकारी मानसों का कहां है ॥५॥
रसमय वचनों से नाथ जो सर्वदा ही।
मम सदन बहाता स्वर्ग-मंदाकिनी था ॥
श्रुति-पुट टपकाता बूँद जो था सुधा की,
वह नव-खनि न्यारी मञ्जुता की कहां है ॥६॥
स्वकुल जलज का है जो समुत्फुल्लकारी,
मम परम निराशा-यामनी का विनाशी ॥
व्रज-जन विहगों के वृन्द का मोद-दाता,
वह दिनकर-शोभी राम भ्राता कहां है ॥७॥
मुख पर जिस के है सौम्यता खेलती-सी,
अनुपम जिस का हूँ शील-सौजन्य पाती ॥
पर दुख लख के है जो समुद्विग्न होता--
वह सरलपने का स्वच्छ सोता कहां है ॥८॥
गृहतिमिर-निराशा का समाकीर्ण जो था,
निज मुख-दुति से है जो उसे ध्वंसकारी ॥
सुखकर जिस से है कामिनी जन्म मेरा,
वह रुचिकर चित्रों का चितेरा कहां है ॥९॥
सहकर कितने ही कष्ट औ सङ्कटों को।
बहु यतन कराके पूजके निर्जरों को ॥
यह सुअन मिला है जो मुझे यत्न-द्वारा,
प्रियतम ! वह मेरा कृष्ण प्यारा कहां है॥१०॥

मुखरित करता जो सद्म को था शुकों-सा,
कलरव करता था जो खगों-सा वनों में ॥
सुध्वनित पिक लौं जो वाटिका था बनाता,
वह बहु विधि कंठों का विधाता कहां है ॥११॥
बन-बन फिरती हैं खिन्न गायें अनेकों।
शुक भर-भर आंखें भौन को देखता है ॥
सुधि कर जिसकी है सारिका रोती, नित्य
वह निधि मृदुता का मञ्जु मोती कहां है ॥१२॥
गृह गृह अकुलाती गोप की पत्नियां हैं
पथ-पथ फिरते हैं ग्वाल भी उन्मना हो ॥
जिस कुँअर बिना मैं हो रही हूँ अधीरा,
वह खनि सुषमा का स्वच्छ हीरा कहां है ॥१३॥
बहु विभव वहाँ का देख के श्याम भूला।
वह विलम गया या वृन्द में बालकों के ॥
फँस कर जिसमें हा ! लाल छूटा न मेरा,
सुफलक-सुत ने क्या जाल कोई बिछाया ॥१४॥
परम शिथिल हो के पन्थ की क्लान्तियों से,
वह ठहर गया है क्या किसी वाटिका में ॥
प्रियतम तुमसे या दूसरों से जुदा हो,
वह भटक रहा है या कहीं मार्ग ही में ॥१५॥
विपुल कलित कुञ्जें कालिंदी-कूल वाली,
अतुलित जिन में थी प्रीति मेरे प्रियों की ॥

पुलकित चित से वे क्या उन्हीं में गये हैं,
कतिपय दिवसों की श्रांति उन्मोचने को ? ॥१६॥
विविध सुरभिवाली मण्डली बालकों की,
पथ युगल सुतों ने क्या कहीं देख पाई ॥
निज सुहृद जनों में, वत्स में, धेनुओं में,
बहु विलम गये वे क्या इसी से न आये ? ॥१७॥
निकट अति अनूठे नीप फूले फले के,
कलकल बहती जो धार है भानुजा की ॥
अति प्रिय सुत को है दृश्य न्यारा वहां का,
वह समुद उसे ही देखने क्या गया है ? ॥१८॥
यदि वह अति नेही शील सौजन्यशाली,
तजकर निज भ्राता को नहीं संग आया ॥
ब्रज-अवनि बता दो नाथ कैसे बसेगी !
बिन वदन विलोके आज मैं क्यों बचूंगी ॥१६॥
हा ! वृद्ध के अतुल धन हा ! वृद्धता के सहारे।
हा प्राणों के परम प्रिय हा ! एक मेरे दुलारे ॥
हा शोभा के सदन-सम हा ! रूपलावण्यवारे।
हा ! बेटा हा ! हृदय धन हा! नैनतारे हमारे ॥२०॥
कैसे होके अलग तुझसे आज लौं मैं बची हूँ।
जो मैं ही हूँ समझ न सकी तो तुझे क्या बताऊँ ॥

हा ! जीऊँगी न अब, पर है वेदना एक होती ।
तेरा प्यारा वदन मरती बार मैंने न देखा ॥ २१ ॥
('प्रियप्रवास' से)

कर्म वीर

देखकर बाधा विविध, बहुविघ्न घबराते नहीं।
रह भरोसे भाग के दुख भोग पछताते नहीं ॥
काम कितना ही कठिन हो किन्तु उकताते नहीं।
भीड़ में चंचल बने जो वीर दिखलाते नहीं ॥
हो गये इक आन में उन के बुरे दिन भी भले।
सब जगह सब काल में वे ही मिले फूले फले ॥१॥
आज करना है जिसे करते उसे हैं आज ही।
सोचते कहते हैं जो कुछ कर दिखाते हैं वही ॥
मानते जी की हैं सुनते हैं सदा सब की कही।
जो मदद करते हैं अपनी इस जगत में आप ही ॥
भूल कर वे दूसरों का मुँह कभी तकते नहीं।
कौन ऐसा काम है वे कर जिसे सकते नहीं ॥२॥
जो कभी अपने समय को यों बिताते हैं नहीं।
काम करने की जगह बातें बनाते हैं नहीं ॥
आज कल करते हुए जो दिन गँवाते हैं नहीं।
यत्न करने में कभी जो जी चुराते हैं नहीं ॥
बात है यह कौन जो होती नहीं उन के किये।
वे नमूना आप बन जाते हैं औरों के लिये ॥३॥

व्योम को छूते हुए दुर्गम पहाड़ों के शिखर।
वे घने जंगल जहाँ रहता है तम आठों पहर ॥
गर्जते जल-राशि की उठती हुई ऊँची लहर।
आग की भयदायिनी फैली दिशाओं में लवर ॥
ये कंपा सकती कभी जिसके कलेजे को नहीं।
भूल कर भी वह नहीं नाकाम रहता है कहीं ॥४॥

चिलचिलाती धूप को जो चाँदनी देवें बना।
काम पड़ने पर करें जो शेर का भी सामना ॥
जो कि हंस हंस के चबा लेते हैं लोहे का चना।
"है कठिन कुछ भी नहीं" जिनके है जी में यह ठना ॥
कोस कितने भी चलें पर वे कभी थकते नहीं।
कौन सी है गांठ जिसको खोल वे सकते नहीं ॥५॥

ठीकरी को वे बना देते हैं सोने की डली।
रेग को करके दिखा देते हैं वे सुन्दर खली ॥
वे बबूलों को लगा देते हैं चम्पे की कली।
काक को भी वे सिखा देते हैं कोकिल-काकली ॥
ऊसरों में हैं खिला देते अनूठे वे कमल।
वे लगा देते हैं उकठे काठ में भी फूल फल ॥६॥

काम को आरम्भ करके यों नहीं जो छोड़ते।
सामना करके नहीं जो भूल कर मुंह मोड़ते ॥
जो गगन के फूल बातों से वृथा नहीं तोड़ते।
संपदा मन से करोड़ों की नहीं जो जोड़ते ॥

बन गया हीरा उन्हीं के हाथ से है कारबन।
काँच को करके दिखा देते हैं जो उज्ज्वल रतन ॥७॥
पर्वतों को काट कर सड़कें बना देते हैं वे।
सैंकड़ों मरु भूमि में नदियां बहा देते हैं वे॥
गर्भ में जल राशि के बेड़ा चला देते हैं वे।
जंगलों में भी महा मंगल रचा देते हैं वे॥
भेद नभतल का उन्हों ने है बहुत बतला दिया।
है उन्हों ने ही निकाली तार की सारी क्रिया ॥८॥
कार्य थल को वे कभी नही पूछते 'वह है कहां ?''
कर दिखाते हैं असम्भव को वहीं संभव यहां॥
उलझनें आकर उन्हें पड़ती हैं जितनी ही जहां।
वे दिखाते हैं नया उत्साह उतना ही वहां॥
डाल देते हैं विरोधी सैंकड़ों ही अड़चनें।
वे जगह से काम अपना ठीक करके ही टलें ॥९॥
जो रुकावट डालकर होवे कोई पर्वत खड़ा।
तो उसे देते हैं अपनी युक्तियों से वे उड़ा॥
बीच में पड़ कर जलधि जो काम देवे गड़बड़ा।
तो बना देंगे उसे वे क्षुद्र पानी का घड़ा॥
बन खँगालेंगे करेंगे व्योम में बाजीगरी।
कुछ अजब धुन काम के करने की उन में है भरी १०॥
सब तरह से आज जितने देश हैं फूले फले।
बुद्धि, विद्या, धन, विभव के हैं जहां डेरे डले॥

वे बनाने से उन्हीं के बन गये इतने भले,
वे सभी हैं हाथ से ऐसे सपूतों के पले ॥
लोग जब ऐसे समय पाकर जनम लेंगे कभी।
देश की और जाति की होगी भलाई भी तभी ॥११॥

लाला भगवानदीन "दीन"

[सम्वत् १६२३—१६८७]

लाला जी हिन्दी मर्मज्ञों में से एक थे। इन्होंने राम चन्द्रिका, कवि-प्रिया, रसिक-प्रिया, कवितावली और विहारी सत्सई पर बड़ी प्रामाणिक टीकायें लिखीं। इनकी कविताओं के 'नवीन बीन', 'सूक्ति सरोवर' और 'वीरपञ्चरत्न' नाम के संग्रह हैं। अलंकार पर इन का लिखा हुआ "अलंकार मञ्जूषा" नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है और कई परीक्षाओं में पाठ्य-ग्रन्थ है। हिन्दी के प्रचार के लिए आप ने जो काम किया वह नितान्त श्लाघ्य है। काशी नागरी प्रचारणी सभा के सुप्रसिद्ध कोष "हिन्दी-शब्द सागर" के सम्पादन में आप का काफी हाथ रहा। काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय में आप हिन्दी के अध्यापक थे तथा काशी में ही आपकी पुण्य स्मृति में 'भगवानदीन-साहित्य विद्यालय' स्थापित है।

'दीन जी' बड़े परिश्रमी और साहित्य चर्चा के प्रेमी थे। गद्य और पद्य के यशस्वी लेखक थे। खड़ी बोली और ब्रज-भाषा दोनों में अच्छी रचना कर लेते थे।

कवि का आदर्श

वीरों की सुमाताओं का यश जो नहीं गाता।
वह व्यर्थ सुकवि होने का अभिमान जनाता॥
जो वीर–सुयश गाने में है ढील दिखाता।
वह देश के वीरत्व का है मान घटाता॥
दुनिया में सुकवि नाम सदा उसका रहेगा।
जो काव्य में वीरों की सुभग कीर्ति कहेगा॥ १॥

'वाल्मीकि' ने जब वीरचरित राम का गाया।
सम्मान सहित नाम अमर अपना बनाया॥
श्रीव्यास ने तब नाम सुकवियों में है पाया।
भारत के महायुद्ध का जब गीत सुनाया॥
कब चन्द भी हिन्दी का सुकवि आदि कहाता।
यदि वीर पिथौरा का सुयश-गान न गाता॥ २॥

'होमर' जो है यूनान का कवि आदि कहाया।
उसने भी सुयश वीरों का है जोश से गाया॥
'फिरदौसी' ने भी नाम अमर अपना बनाया।
जब फ़ारसी वीरों का सुयश गाके सुनाया॥
सब वीर किया करते हैं सम्मान क़लम का।
वीरों का सुयश-गान है अभिमान क़लम का॥ ३॥

इस वक्त हैं हिन्दी के बहुत काव्य-धुरंधर।
आचार्य कोई, इन्दु कोई, कोई प्रभाकर॥
काव्याद्रि कोई कोई हैं साहित्य के सागर।
हैं काव्य के कानन के कोई सिंह भयंकर॥
मैं काव्य-सुकुल-कामिनी का बाल हूं अज्ञान।
इस हेतु मुझे भाता है माताओं का यश गान॥ ४॥

पं० राम चरित उपाध्याय

[सम्वत् १६२६—]

पंडित जी पहिले व्रजभाषा में कविता करते थे, पीछे खड़ी बोली में लिखने लगे। आज कल आप खड़ी बोली के प्रतिनिधि कवि हैं। आप की कविताएं उच्च कोटि की हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः निकला करती हैं। कुछ गद्य पुस्तकें भी लिखी हैं, लेकिन आप का 'रामचरित-चिन्तामणि' नामक महाकाव्य ही आप की कृतियों में सब से अधिक लोकप्रिय है। आप की रचनाओं में सच्चरित्रता और जातीयता की पर्याप्त मात्रा पाई जाती है। कलात्मक वृत्ति की अपेक्षा उपदेशात्मक वृत्ति अधिक अंशों में विद्यमान है।

पण्डित जी पुराने ढंग के संस्कृतज्ञ एवं विद्वान हैं। आप का गार्हस्थ्य जीवन अत्यन्त ही सादा है। इन्हें स्वतन्त्रता बहुत प्यारी है। स्वभाव में धैर्य, क्षमा, और परोपकारिता भरी हुई है। आप के ही पुरुषार्थ से गाज़ीपुर में एक संस्कृत पाठशाला और एक हिन्दी पुस्तकालय चल रहा है।

—:०:—

शक्ति-प्रहार

थर्रा उठा जब इन्द्रजित सौमित्र का बल देखकर,
तब शक्ति से मारा उन्हें उसने घुमाकर शक्ति भर।
वह शक्ति बिजली-सी चली, लक्ष्मण हृदय में आ लगी,
तत्काल ही लक्ष्मण गिरे, मूर्छित हुए, सेना भगी ॥ १ ॥
रण-वृत को दशकंठ से इन्द्रारि ने जाकर कहा;
वह पुत्र को उर से लगा मन में हुआ हर्षित महा।
सौमित्र को रख कांध पर हनुमान ने साहस किया,
बैठे जहां पर राम थे जाकर वहीं पर रख दिया ॥ २ ॥
दारुण दशा को देख कर सब एक दम ठक हो गये;
बोली नहीं निकली किसी की, प्राण सब के खो गये।
अति दीन मुख, गतचेत लक्ष्मण को लखा जब राम ने,
हो तब विकल करने लगे रोदन सभी के सामने ॥ ३ ॥
धोखा न दो भैया ! मुझे इस भांति आकर के यहां;
मँझधार में मुझ को बहाकर तात ! जाते हो कहां ?
जाने न पावोगे, नहीं मारा गया अरि-दल अभी;
तुमको न करना चाहिए हे अंग ! मुझ से छल कभी ॥४॥
भैया ! तुम्हीं यदि चल बसोगे, मैं करूंगा क्या यहां ?
मैं भी चलूँगा साथ में, तुम तात ! जावोगे जहां।

अब जानकी की जान भी बचने न पावेगी कभी,
अब हा! अयोध्या देखने में भी न आवेगी कभी ॥५॥
यदि जानकी-सी स्त्री कहीं मिल जाय तो अचरज नहीं;
साकेत से कुछ कम न है अमरावती की भी मही।
पर हाय! अनुगामी अनुज तुम सा मिलेगा अब कहां?
सोना सुगंधित खोजने पर भी मिलेगा अब कहाँ ॥६॥
सौमित्रि! तुम सब काम में मुझ से सदा पीछे रहे;
मेरे लिए क्या-क्या न तुमने हृद्विदारक दुख सहे?
पर अग्रगामी आज क्यों बनने लगे हो! बोल दो;
देखो तनिक मेरी दशा को, शीघ्र आँखें खोल दो ॥७॥
जिस रीति से आये जगत में बस उसी क्रम से चलो;
शोकाब्धि में मैं हूँ गिरा, मत इस समय मुझको छलो।
कुछ काल तक ठहरो अभी आगे चलूंगा मैं वहाँ,
मुझ को यहां पर छोड़ तुम हो चाहते जाना जहां ॥८॥
तुम हाथ मेरा छोड़ते हो, साथ देगा कौन अब?
क्यों रुष्ट हो मुझ से? कहो! कैसे हुए हो मौन अब?
मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण कैसे हो सकेगी अब यहां।
तुम भी रहोगे जो नहीं, मैं क्या करूंगा अब यहां ॥९॥
निज कर्म को, प्रिय धर्म को भी छोड़ दूँगा मैं अभी;
परिवार से संसार से मुख मोड़ दूँगा मैं अभी।
पर स्वप्न में भी एक पल तुमको न छोडूंगा कभी;
तुम से रहित हो शत्रु से मैं कर न जोडूंगा कभी ॥१०॥

मेरे करों से क्षीर पीकर, तिल विमिश्रित नीर क्यों—
हा ! बंधु ! पीना चाहते हो ? हो गये बेपीर क्यों ?
पहले चिता में मैं गिरूंगा गोद में लेकर तुम्हें;
जीवित रहूंगा हाय ! कैसे काल को देकर तुम्हें ॥११॥
अंतिम क्रिया मैंने पिता की की नहीं, की गिद्ध की;
उपकार के सत्कार में उस को मिली गति सिद्ध की।
इस हेतु क्या विधि रुष्ट होकर मारने तुमको चला,
गलने न पावेगी अनुज ! पर एक भी उसकी कला ॥१२॥
तुमको मिटाने के प्रथम विधि आप ही मिट जायगा,
यमराज भी निज राज से बस आज ही हट जायगा।
कैसे तुम्हारा लय प्रलय आये बिना हो जायगा ?
खोना पड़ेगा तब तुम्हें संसार जब खो जायगा ॥१३॥
सीता गई तुम भी चले, मैं भी न जीऊँगा कभी,
सुग्रीव को भी साथ ले घर जायँगे बंदर सभी।
पर हाय ! भैया ! यह विभीषण भक्त जावेगा कहाँ ?
मेरे लिए होकर अकिंचन ठौर पावेगा कहाँ ॥१४॥
सीता-हरण, मेरा मरण सुन केकयी होवे सुखी,
पर शेष माताएँ भला कैसी न होवेंगी दुखी।
किस दुर्दशा को प्राप्त होंगी वे, कहां, कुछ ध्यान है ?
क्यों बोलते हो कुछ नहीं ? मैं कौन हूं ? कुछ ज्ञान है ॥१५॥
मैं सब अनर्थों का जनक, माता -हृदय का शूल हूँ,
रघुवंश का अंगार हूँ, सब विग्रहों का मूल हूँ।

मानो मही पर हो गया मेरा अपरिमित भार है !
मुझ से अभागे को सदा धिक्कार है ! धिक्कार है ॥१६॥
वन में तुम्हें खोकर अयोध्या में न जाऊँगा कभी,
जाकर वहाँ कैसे किसी को मुख दिखाऊँगा कभी ?
स्वर में पिता से क्या कहूंगा, यदि चलूंगा मैं वहाँ,
मैं क्या करूँ कैसे मरूँ, बोलो अनुज, जाऊँ कहाँ ॥१७॥
धन हीन हो, जन हीन हो, स्त्री हीन हो जीता रहा,
वह कौन ऐसा दुःख है मुझ पर न जो बीता रहा ?
केवल तुम्हारा बल रहा, विधि ने उसे भी ले लिया;
निज-कुल-विनाशक ने अनुज! क्या पाप था मैंने किया॥१८॥
मेरे सहायक बन, अनुज ! बन में स्वयं आये रहे,
मेरे लिये ही हा ! वृथा तुम ने अनेकों दुख सहे।
मुझ को अकेला छोड़ कर क्यों भागते हो अब कहो ?
मैंने तुम्हारा साथ छोड़ा था कहाँ पर कब कहो ॥१९॥
यदि भेंट होगी जानकी से या सुमित्रा से कहीं
तो क्या कहूँगा मैं, तनिक उठ कर बताओ तो सही।
यदि तुम नहीं तो कुछ नहीं मेरा रहा संसार में;
सर्वस्व मेरा नष्ट होकर मिल गया अब छार में ॥२०॥
संजीवनी लाने गया, हनुमान भी आया नहीं !
मारा गया वह, या उसे उस ने अभी पाया नहीं।
होते सवेरा कूच डेरा आप का हो जायगा;
लक्ष्मण ! शमन तब केकयी के ताप का हो जायगा ॥२१॥

इस बीच में वायु का पुत्र आया,
हुई युक्ति, सौमित्रि ने प्राण पाया।
मिले बंधु दोनों टला शोक भारी,
विधे! वंद्य है लोक-लीला तुम्हारी॥ २२॥
(राम-चरित-चिन्तामणि, सर्ग २०)

———

कामता प्रसाद 'गुरु'

[संवत् १९३२—]

गुरुजी सुप्रसिद्ध व्याकरणाचार्य हैं। आप ने 'हिन्दुस्तानी शिष्टाचार', 'सुदर्शन नाटक', 'अन्त्याक्षरी', पद्यपुष्पावली' 'पार्वती', 'यशोदा' आदि कई पुस्तकें लिखी हैं, किन्तु सब से अधिक महत्वपूर्ण और विद्वत्ता-सूचक पुस्तक 'हिन्दी-व्याकरण' है, जिसे इन्हों ने कई वर्षों के परिश्रम के बाद लिखा है। ये हिन्दी-भाषा तथा व्याकरण में प्रमाण माने जाते हैं। इनकी भाषा सम्मत, सहज और परिष्कृत होती है। इन की कविता प्रसादपूर्ण और भावमय रहती है। कभी कभी विनोद की मात्रा भी पाई जाती है।

गुरु जी में समालोचना करने की शक्ति बढ़ी-चढ़ी है। इनका रहन सहन बहुत सादा है। ऊपरी आडम्बर इन्हें पसन्द नहीं। स्वयं शिष्टाचार का पालन करते हैं, इस लिए हिन्दुस्तानी लोगों की अशिष्टता और कलह प्रियता पर इन्हें बड़ा खेद होता है। यह अंगरेज़ी, हिन्दी, संस्कृत, फ़ारसी, उर्दू, उड़िया, बंगला और मराठी के विद्वान हैं। इन दिनों गवर्नमेंट पेंशनर हैं और सपरिवार जबलपुर में रहते हैं।

—:०:—

शिवाजी

जीती जाती हुई जिन्हों ने भारत बाजी,
निज बल से मलमेट विधर्मी मुग़ल कुराजी।
जिन के आगे ठहर सके जंगी न जहाजी,
हैं जग-जाहिर वही छत्रपति भूप शिवाजी ॥ १ ॥

वीर वंश में स्वयं जन्म था जिस माता का,
वीर कोख से वीर उसी ने जाया बाँका।
वीरोचित कर्तव्य उसी ने सुत का ताका,
भय-शोच से गिरी उसी के मुग़ल-पताका ॥ २ ॥

राजपूत का रक्त मिला उस की नस नस में,
क्यों फिर आकर शक्ति न होती उस के बस में।
थे जिस के सब चरित अलौकिक बाल-वयस में,
करता सम्भव क्यों न असम्भव वह साहस में ॥ ३ ॥

दादो जी से वीर विप्र ने जिसे पढ़ाया,
रामदास ने जिसे धर्म-उपदेश सुनाया।
वही शिवाजी वीर वीर-माता का जाया,
रहने देता भला कहीं निज देश पराया ॥ ४ ॥

देश, नाम, कुल, धर्म हिन्दुओं का मिट जाता,
'अपना' शब्द पुनीत न कोई कहने पाता।

आर्य गुणों का गान कहां से कोई गाता,
यह अवतारी वीर न जो भारत में आता ॥ ५ ॥

करके उस का ध्यान चित्त होता है चंचल,
जिस के कारण बंधा हिन्दुओं का बिखरा बल।
उसे अश्व पर देख फूल उठता था रण-थल,
विकट मरहठे वीर जूझते थे दल के दल ॥ ६ ॥

दूर दूर जय-ध्वजा शिवाजी ने फहराई,
निज स्वतन्त्रता गई हिन्दुओं ने फिर पाई।
एक बार फिर जन्म-भूमि यह 'निज' कहलाई,
राम राज्य की छटा दृष्टि में फिर भी आई ॥ ७ ॥

तिल तिल भारत-भूमि जीत यवनों के कर से,
रच राई का मेरु बसाया ऊजड़ फिर से।
अष्ट प्रधान प्रबन्ध अनोखा कर जमधर से,
पाली पुत्र समान प्रजा अपनी आदर से ॥ ८ ॥

सहे देश के लिये उन्हों ने संकट,
गिने न पग के कष्ट बाट भी लगी न ऊबट।
पग पग छिन छिन यदपि खड़े थे सिर पर घातक,
तो भी उन का झुका न रिपु के आगे मस्तक ॥ ६ ॥

कठिन विपति में भी न उन्होंने त्यागा धीरज,
गूढ़ अनूठी युक्ति सोच कर साधा निज कारज।
आपस का विश्वास दूसरे देशों को तज,
आ धरता था सीस मरहठे के पद की रज ॥ १० ॥

निज भुज-बल से शीघ्र राष्ट्र को "महा" बनाया,
हरद्वार, गुजरात, सेतु, जगदीश जगाया।
वैश्यों को भी समर भूमि का खेल दिखाया,
पल में कर दी दूर परालम्बन की माया ॥११॥

करने को उद्धार देश का कुटिल मुग़ल से,
देश भक्ति थी भरी कुटी पर्यन्त महल से।
वीर मरहठे हटे न मरकर भी निज थल से,
सिसोदियों-सम कटे खड़े घाटी में बल से ॥१२॥

राजनीति में रही शिवाजी की चतुराई,
जिस के आगे चली न मुग़लों की मुग़लाई।
थी उनकी निर्दोष बुराई सदा भलाई,
बैरी ने भी छिपे बड़ाई उनकी गाई ॥१३॥

शूर, साधु, कवि, गुणी इन्हें थे जी से प्यारे,
दया, शक्ति, नय, शील रहे वे हिय में धारे।
गुरु, गो, द्विज के चरण प्रेम से सदा पखारे,
किया न कोई काम बिना नृपधर्म विचारे ॥१४

क्या सेना, क्या सदन, वनिज क्या खेती खाता,
क्या शिक्षा, क्या धर्म, प्रजा राजा का नाता।
क्या स्वराज्य, क्या सभा, पत्र सीरा, क्या ताता,
रहा सभी में विद्यमान यह भारत त्राता ॥१५॥

पर विधि ने करतूत यहां भी अपनी साजी,
वीर वंश में जाय हाय! उपजाया पाजी।

कहाँ छत्रपति भूप आर्य कुल-मुकुट शिवाजी,
कहाँ कलङ्की, क्रूर, कुटिल, कायर संभाजी ॥१६॥
भारतखंड में आज शिवाजी यदपि नहीं हैं,
तो भी उन के चिन्ह यहां पर सभी कहीं हैं।
इन से उनकी कीर्ति-लता नूतन उलही है,
नये जोश से भक्ति भाव की नदी वही है ॥१७॥
उचित यही है करें वीर पूजा मिल हम सब,
यही धर्म है सत्य यही है सच्चा करतब।
भारत पर अति कठिन विपति आती है जब जब,
इसी भांति अवतार ईश लेते हैं तब तब ॥१८॥

रामचन्द्र शुक्ल

[सम्वत् १६४१ —]

शुक्ल जी सन् १६०८ से काशी नागरी प्रचारिणी सभा का काम करते हैं। आठ नौ वर्ष तक बड़ी योग्यता से नागरी प्रचारणी पत्रिका का सम्पादन करते रहे। आज कल आप बनारस हिन्दु यूनिवर्सिटी में हिन्दी के प्रोफेसर हैं। आपने कई अंग्रेजी और बंगला की पुस्तकों का सुन्दर अनुवाद किया है। हिन्दी साहित्य में भी आप की अच्छी योग्यता है। आप उच्च कोटि के कवि और समालोचक माने जाते हैं। आप के लिखने का ढंग विशेषतः गम्भीर, मौलिक एवं व्यवस्थित रहता है। एक एक शब्द तोल तोल कर लिखते हैं। पद्य की अपेक्षा आप ने गद्य अधिक लिखा है, पर पद्य जितना भी लिखा है बहुत अच्छा लिखा है।

'बुद्ध चरित'—Light of Asia के आधार पर आठ सर्गों का काव्य आप ने ब्रजभाषा में लिखा है। इस काव्य-ग्रन्थ की बड़ी ही सरस और भावपूर्ण कविता है। करुण रस दिखाने में आपने कमाल कर दिया है। शुक्ल जी के प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन भी बड़े ही मार्मिक और मनोहर होते हैं उन से इनके प्रकृति के सूक्ष्म-निरीक्षण का परिचय मिलता है।

———

हृदय का मधुर भार

(१)

भूरी हरी घास आस पास फूली सरसों है,
पीली पीली बिन्दियों का चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार।
गाढ़ी हरी श्यामता की तुङ्गराशि रेखा घनी
बांधती है दक्षिण की ओर उसे घेर घार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभमण्डल से
धुँधली सी नीली नगमाला उठी धुआँधार॥

(२)

लगती हैं चोटियाँ वे अति ही रहस्यमयी,
पास ही में होगा बस वहीं कहीं देवलोक।
बार बार दौड़ती है दृष्टि उस धुँधली सी
छाया बीच ढूँढने को अमर-विलास-ओक।
ओट में अखाड़े वहाँ होंगे वे पुरन्दर के,
अप्सराएं नाच रही होंगी जहां ताली ठोंक।
सुनने को सुन्दर संगीत वह मन्द मन्द
बुद्धि की नहीं है अभी कहीं कोई रोक-टोक॥

(३)

अङ्कित नीलाभ रक्त औ श्वेत सुमनों से
मटर के फैले हुए घने हरे जाल में।
करती हैं फलियां संकेत जहाँ मुड़ते हैं
और अधिकार का न ज्ञान इस काल में।
बैठते हैं प्रीति-भंज हेतु आस-पास सब
पक्षियों के साथ इस भरी हुई थाल में।
हाँक पर एक साथ पंखों ने सराटे भरे,
हम मेंड पार हुए एक ही उछाल में॥

(४)

सूखती तलैया के चारों ओर चिपकी हुई
लाल लाल काईयों की भूमि पार करते।
गहरे पड़े गोपद के चिन्हों से अंकित जो,
श्वेत बक जहां हरी दून में विचरते।
बैठ कुछ काल एक पास के मधूक तले
मन में सन्नाटे का निराला सुर भरते।
आए 'शरपत्र' के किनारे जहाँ रूखे खुले
टीले कंकरीले हैं हेमन्त में निखरते॥

———

बुद्ध की तपश्चर्या

या ठौर श्रीभगवान बसि काटत कराल निदाघ को।
जलधार-मय घनघोर पावस, कठिन जाड़ा माघ को।
सब लोक हित धरि मलिन बसन कषाय कोमल गात पै।
मांगे भिनति जो भीख पलटि पसारि पावत पात पै॥
व्रत नियम औ उपवास नाना करत धारत ध्यान हैं।
लावत अखंड समाधि आसन मारि मूर्ति समान हैं।
चढ़ि जानु ऊपर कूदि कबहूँ धाय जाति गिलाय हैं।
कन चुनत ढीठ कपोत कर ढिग कबहु कंठ हिलाय हैं॥
यों विजन बन के बीच बसि प्रभु ध्यान धरि सोचत सदा।
प्रारब्ध की गति अटपटी औ मनुज की सब आपदा।
परिनाम जीवन के जतन को, कर्म की बढ़ती जड़ी॥
आगम निगम सिद्धान्त सब औ पसुन की पीड़ा बड़ी॥
वा सून्य को सब भेद जहँ सों कढ़त सब दरसात हैं।
पुनि भेद वा तम को जहां सब अंत में चलि जात हैं।
या भांति दोउ अव्यक्त बिच यह व्यक्त जीवन ढरत है।
ज्यों मेघ तें लैं मेघ लौं नभ इन्द्रधनु लखि परत है॥
नीहार सों औ घाम सों जुरि जासु तन बनि जात हैं।
जो विविध रंग देखाय क पुनि सून्य बीच विलात है।

पुखराज, मरकत नीलमनि मानिक छटा छहराइ कै।
जो छीन छन छन होत अन्त समात है कहुँ जाइ कै॥

['बुद्ध चरित' से]

आमंत्रण

दृग के प्रतिरूप सरोज हमारे उन्हें जग ज्योति जगाती जहाँ;
जल बीच कलंब-करंबित कूल से दूर छटा छहराती जहाँ;
घन अंजनवर्ण खड़े, तृणजाल की झाँई पड़ी दरसाती जहाँ;
बिखरे बक के निखरे सित पंख बिलोक बकी बिक जाती जहाँ;
द्रुम-अंकित, दूब-भरी जलखंड-जड़ी धरती छबि छाती जहाँ;
हर हीरक-हेम-मरक्त-प्रभा, ढल चंद्रकला है चढ़ाती जहाँ;
हँसती मृदु मूर्ति कलाधर की कुमुदों के कलाप खिलाती जहाँ;
घन-चित्रित अंबर अंक धरे सुषमा सरसी सरसाती जहाँ;
निधि खोल किसानों के धूल-सने श्रम का फल भूमि बिछाती जहाँ;
चुन के, कुछ चोंच चला करके चिड़िया निज भाग बँटाती जहाँ;
कगरों पर कांस की फैली हुई धवली अवली लहराती जहाँ;
मिल गोपों की टोली कछार के बीच है गाती औ गाय चराती जहाँ
जननी धरणी निज अंक लिए बहु कीट पतंग खेलाती जहाँ;
ममता से भरी हरी बाँह की छाँह पसार के नीड़ बसाती जहाँ;
मृदुवाणी, मनोहर वर्ण अनेक लगा कर पंख उड़ाती जहाँ;
उजली कँकराली तटी में धँसी तनु धार लटी बल खाती जहाँ;
दलराशि उठी खरे आतप में हिल चंचल चौंध मचाती जहाँ;
उस एक हरे रंग में हलकी गहरी लहरी पड़ जाती जहाँ;
कल कर्बुरता नभ की प्रतिबिम्बित खंजन में मन भाती जहाँ;
कविता वह ! हाथ उठाए हुए चलिए कवि वृन्द बुलाती वहाँ।

——

मैथिली शरण गुप्त

(संम्वत् १६४३—)

वर्तमान हिन्दी-कवियों में बाबू मैथिली शरण जी का नाम हिंदी संसार में सब से अधिक प्रसिद्ध है। विद्यार्थी तो इन की कृतियों को बड़े ही चाव से पढ़ते हैं। 'भारत-भारती' "जयद्रथ-बध" 'रङ्ग में भङ्ग' 'अनघ' आदि कितनी ही रुचिर रचनाएं आप की प्रकाशित हो चुकी हैं। इन की भाषा परिमार्जित, क्लिष्ट, विशुद्ध एवं व्याकरण-सम्मत होती है। सर्वदा खड़ी बोली में लिखते हैं। आप की रचनाओं ने कविता प्रेमी-जनों को खड़ी बोली की ओर प्रेरित किया है गुप्त जी की साहित्य-सेवा प्रशंसनीय है। आप राष्ट्रीय कवि हैं। जातीयता की ओर इन का विशेष ध्यान रहता है, इन का स्वभाव सरल, सरस और निरहंकार है।

———

उद्बोधन

हतभाग्य हिन्दू-जाति ! तेरा पूर्व दर्शन है कहां ?
वह शील, शुद्धाचार, वैभव देख, अब क्या है यहां ?
क्या जान पड़ती वह कथा अब स्वप्न की सी है नहीं ?
हम हों वहीं, पर पूर्व-दर्शन दृष्टि आते हैं कहीं ॥
बीतीं अनेक शताब्दियां पर हाय ! तू जागी नहीं,
यह कुम्भकर्णी नींद तू ने तनिक भी त्यागी नहीं ! ॥ १ ॥
देखें कहीं पूर्वज हमारे स्वर्ग से आकर हमें—
आँसू बहावें शोक से, इस वेष में पाकर हमें ।
अब भी समय है जागने का देख आँखें खोल के,
सब जग जगाता है तुझे जगकर स्वयं जय बोल के,
निःशक्त यद्यपि हो चुकी है किन्तु तू न मरी अभी,
अब भी पुनर्जीवन-प्रदायक साज हैं सम्मुख सभी ॥ २ ॥
हम कौन थे क्या हो गये हैं, जान लो इस का पता,
जो थे कभी गुरु है उन में शिष्य की भी योग्यता ।
जो थे सभी के अग्रगामी आज पीछे भी नहीं,
है दीखती संसार में विपरीतता ऐसी कहीं ?
निज पूर्वजों के सद्गुणों का गर्व जो रखती नहीं ।
वह जाति जीवित जातियों में रह नहीं सकती कहीं ॥ ३ ॥

हम हिन्दुओं के सामने आदर्श जैसे प्राप्त हैं।
संसार में किस जाति को, किस ठौर वैसे प्राप्त हैं?
यदि हम किसी भी कार्य को करते हुये असमर्थ हैं,
तो उस अखिल-कर्ता पिता के पुत्र ही हम व्यर्थ हैं॥
अपनी प्रयोजन-पूर्ति क्या हम आप कर सकते नहीं?
क्या तीस कोटि मनुष्य अपना ताप हर सकते नहीं? ४॥
क्या हम सभी मानव नहीं किं वा हमारे कर नहीं?
रो भी उठें हम तो बने क्य: अन्य रत्नाकर नहीं?
भागो अलग अविचार से त्यागो कुसङ्ग कुरीति का,
आगे बढ़ो निर्भीकता से काम है क्या भीति का।
चिन्ता न विघ्नों की करो, पाणि-ग्रहण कर नीति का
सुर-तुल्य अजरामर बनो पीयूष पीकर प्रीति का॥५॥
संसार की समरस्थली में धीरता धारण करो,
चलते हुये निज इष्ट पथ पर सङ्कटों से मत डरो,
जीते हुये भी मृतक-सम रहकर न केवल दिन भरो,
वर वीर बनकर आप अपनी विघ्न-बाधायें हरो।
है ज्ञात क्या तुम को नहीं तुम लोग तीस करोड़ हो?
यदि ऐक्य हो तो फिर तुम्हारा कौन जग में जोड़ हो? ६॥
उत्साह जल से सींचकर हित का अखाड़ा गोड़ दो,
गर्दन अमित्र अधःपतन की ताल ठोंक मरोड़ दो।
जो लोग पीछे थे तुम्हारे, बढ़ गये, हैं बढ़ रहे,
पीछे पड़े तुम दैव के सिर दोष अपने मढ़ रहे!

पर कर्म्म-तैल विना कभी विधि-दीप जल सकता नहीं,
है दैव क्या ? साँचे विना कुछ आप ढल सकता नहीं ॥७॥
रक्खो परस्पर मेल मन से छोड़ कर अविवेकता,
मन का मिलन ही मिलन है, होती उसी से एकता।
सब वैर और विरोध का बल-बोध से वारण करो,
है भिन्नता में खिन्नता ही एकता धारण करो।
है एकता ही मुक्ति ईश्वर-जीव के सम्बन्ध में,
वर्णैकता ही अर्थ देती इस निरूढ़ निबन्ध में ॥ ८ ॥
है कार्य ऐसा कौन सा साधे न जिसको एकता ?
देती नहीं अद्भुत अलौकिक शक्ति किस को एकता ?
दो एक एकादश हुये, किस ने नहीं देखे सुने ?
हाँ, शून्य के भी योग से हैं अंक होते दशगुने।
प्रत्येक जन प्रत्येक जन को बन्धु अपना जान लो,
सुख-दुःख अपने बन्धुओं का बन्धु अपना मान लो ॥६॥
अनुदारता-दर्शक हमारे दूर सब अविवेक हों,
जितने अधिक हों तन भले हैं, मन हमारे एक हों।
आचार में कुछ भेद हो पर प्रेम हो व्यवहार में,
देखें हमें फिर कौन सुख मिलता नहीं संसार में ?
प्राचीन बातें ही भली हैं यह विचार अलीक है,
जैसी अवस्था हो जहां वैसी अवस्था ठीक है ॥ १० ॥
सर्वत्र एक अपूर्व युग का हो रहा सञ्चार है।
देखो, दिनोंदिन बढ़ रहा विज्ञान का विस्तार है।

अब तो उठो क्या पड़ रहे हो व्यर्थ सोच विचार में ?
सुख दूर, जीना भी कठिन है श्रम बिना संसार में।
पृथ्वी, पवन, नभ, जल, अनल सब लग रहे हैं काम में,
फिर क्यों तुम्हीं खोते समय हो व्यर्थ के विश्राम में? ॥११॥
बीते हज़ारों वर्ष तुम को नींद में सोते हुये,
बैठे रहोगे और कब तक भाग्य को रोते हुये ?
इस नींद में क्या क्या हुआ यह भी तुम्हें कुछ ज्ञान है ?
कितनी यहां लूटें हुई कितना हुआ आघात है।
होकर न टस से मस रहे तुम एक ही करवट लिये,
निज दुर्दशा के दृश्य सारे स्वप्न सम देखा किये ॥ १२ ॥
इस नींद में ही तो यवन आकर यहां आदृत हुये,
जागे नहीं! स्वातन्त्र्य खोकर अन्त में तुम धृत हुये।
इस नींद में ही सब तुम्हारे पूर्व गौरव हृत हुये,
अब और कब तक इस तरह सोते रहोगे मृत हुये ?
उत्तप्त ऊष्मा के अनन्तर दीख पड़ती वृष्टि है,
बदली न किन्तु दशा तुम्हारी नित्य हानि की दृष्टि है! ॥१३॥
है घूमता फिरता समय तुम किन्तु ज्यों के त्यों पड़े,
फिर भी अभी तक जी रहे हो, वीर हो निश्चय बड़े।
सोचो विचारो तुम कहां हो, समय की गति है कहां,
वे दिन तुम्हारे आप ही क्या लौट आवेंगे यहां।
ज्यों ज्यों करेंगे देर हम वे और बढ़ते जायेंगे,
यदि बढ़ गये वे और तो फिर हम न उनको पायेंगे ॥१४॥

बैठे रहोगे हाय! कब तक और यों ही तुम कहो?
अपनी नहीं तो पूर्वजों की लाज तो रक्खो अहो।
भूलो न ऋषि सन्तान हो अब भी तुम्हें यदि ध्यान हो—
तो विश्व को फिर भी तुम्हारी शक्ति का कुछ ज्ञान हो।
बन कर रहो फिर कर्मयोगी वीर बड़ भागी बनो;
परमार्थ के पीछे जगत में स्वार्थ के त्यागी बनो ॥१५॥
हो कर निराश कभी न बैठो, नित्य उद्योगी रहो,
रोगी रहो तो प्रेम रूपी रोग के रोगी रहो।
पुरुषत्व दिखलाओ पुरुष हो, बुद्धि बल से काम लो,
तब तक न थक कर तुम कभी अवकाश या विश्राम लो!
जब तक कि भारत पूर्व के पद पर न पुनरासीन हो;
फिर ज्ञान में, विज्ञान में जब तक न वह स्वाधीन हो ॥१६॥
निज धर्म का पालन करो, चारों फलों की प्राप्ति हो,
दुःख दाह, आधि-व्याधि सब की एक साथ समाप्ति हो।
ऊपर कि नीचे एक भी सुर है नहीं ऐसा कहीं—
सत्कर्म में रत देख तुम को जो सहायक हो नहीं ॥१७॥

(भारत-भारती से)

वियोगी हरि

[सम्वत् १९५३——]

वियोगी हरि जी का पूर्वनाम पंडित हरिप्रसाद द्विवेदी था। छात्रावस्था से ही एकान्त-प्रिय थे। पढ़ाई समाप्त करके भारत के तीर्थों की यात्रा की। इन्हीं दिनों इन के विवाह की चर्चा चली। घर वालों के बहुत आग्रह करने पर भी इन्होंने विवाह नहीं किया और आजन्म ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। संवत् १९७८ में इन्होंने सन्यास ले लिया और अपना नाम वियोगी हरि रख लिया। कवि-समाज में आप इसी नाम से प्रसिद्ध हैं। गद्य और पद्य दोनों में लिखते हैं। कविता विशेष कर ब्रज-भाषा में ही किया करते हैं, खड़ी बोली में बहुत ही कम। इन की रचना में भक्ति, प्रेम और विरह का अच्छा वर्णन पाया जाता है। अनन्य वैष्णव होते हुए भी इन में विचार-संकीर्णता नहीं है।

वियोगी हरि जी की २०—२५ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, पर इन में 'वीर-सतसई' अत्यन्त प्रसिद्ध है। आप हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत में भी कविता करते हैं।

वीर सतसई के दोहे

आदि मध्य अवसान हू, जामें उदित उछाह।
सुरस वीर इकरस सदा, सुभग सर्व रस-नाह ॥ १

सदय विवेकी सत्यव्रत, सुहृद लेखियतु सूर।
अविवेकी, क्रोधी, कुटिल, कायर कहियतु क्रूर ॥ २ ॥

कादर तौ जीवत मरत, दिन में बार हजार।
प्रान पखेरू वीर के, उड़त एक ही बार ॥ ३ ॥

अरे फिरत कत बावरे, भटकत तीरथ भूरि।
अजौं न धारत सीस पै सहज सूर-पग-धूरि ॥ ४ ॥

जै निज तंत्री छेड़ि दे, कवि वह राग अभंग।
उठै धार तें ओज की, नभ लगि तुंग तरंग ॥ ५ ॥

रे विषयी प्रेमी बनत, नैकु न लागति लाज।
केते कठिन कपोत-व्रत, पालन हारे आज ॥ ६ ॥

लोटि लोटि जापै भये, धूरि-धूसरित आज।
वत्स तुम्हारे हाथ है, ता धरनी की लाज ॥ ७ ॥

जुग-जुग अकह-कहानियां, कहिहैं कवि कुलगाय।
धनि भारत भट नारियां रह्यो सुजसु चहुँ छाय ॥ ८ ॥

अहे-अहेरी यह कहा कादर करत अहेर।
क्यों न लपकि ललकारि तूँ पकरि पछारत सेर ॥ ९ ॥

जित बिनासु आवन चहतु पठवतु प्रथम बिलासु।

मति बिलासु मुंह खाइयो, पैहै नतरु बिनासु ॥ १० ॥

करत शक्ति व्यय व्यर्थ जे, बिनु विवेक, बिनु हेतु।
मेटत ते सुख-शांति कौ, सहज सनातन सेतु ॥ ११ ॥

अब-अब तौ कब ते कहत सध्यो न अबलौं तंत्र।
वह अब कबैं पैहै जबै, ह्वैहै सिद्ध सुमंत्र ॥ १२ ॥

परखतु जीवन-जौहरी प्रान रत्न जहँ गूढ़।
ता सांचे संसार को, कहत असांचो मूढ़ ॥ १३ ॥

त्याग त्याग कत बकत रे, राग त्याग अति दूर।
त्याग ताग ही तें बँधे, यती सती अरु सूर ॥ १४ ॥

अपनावत अजहूँ न जे, अपने अंग अछूत।
क्यों करि ह्वै हैं धूत वे, करि कारी करतूत ॥ १५ ॥

दीनन देखि घिनात जे, नहिं दीनन सों काम।
कहा जानि ते लेति हैं, दीनबंधु कौ नाम ॥ १६ ॥

कोरी भोरी भावना, पैहै काम न आज।
बिनु साधे सुचि साधना, नहिं सरिहैं कछु काज ॥ १७ ॥

बिना मान तजि दीजियो स्वर्गहुँ सुकृत-समेत।
रहै मान तौ कीजिये, नरकहुँ नित्य निकेत ॥ १८ ॥

साधत साधन एक ही, तजि अनेक बुधि-सीम।
धनुष-सिद्ध अर्जुन भयो, गदा सिद्ध भो भीम ॥ १९ ॥

कठिन राम को नाम है, सहज राम कौ नाम।
करता राम कौ काम जे, परत राम सों काम ॥ २० ॥

———

पद

(१)

अरे चलि वा मन्दिर की ओर ।
करत शक्ति-आराधन जहँ नित, वीर भक्त उठि भोर ॥
तात विमल निज हृदय-रक्त सों, करि वाको अभिषेक ।
क्यों न चढ़ावत ललित लाल तेहिं, मौलि-माल गहि टेक ॥
ताज-अग्नि सोई धूप दीप पुनि नव नैवेद्य-विधान ।
अपने कर तें काटि सीस निज, करु पुनीत बलिदान ॥
रौद्र प्रचण्ड अखण्ड ज्योतिमय, करु नीराजन जाय ।
करि हरि विनय वीर वाणी सों, शक्तिहिं लेहि रिझाय ॥

(२)

बहैगो नैननि तें कब नीर ।
देखि-देखि रण-रङ्ग रङ्गीले, अचल बाँकुरे वीर ॥
छिरक्यो देखि रकत केसरिया, बागेन पै शुचि रङ्ग ।
फूलि उठैगी यह छाती कब, ह्वै हैं पुलकित अङ्ग ॥
अरि ललकार सुनत ही मुख पै, चढ़िहै ओज अखंड ।
फरकि उठैंगे अतिप्रचण्ड कब, यह दोऊ भुजदण्ड ॥
लैहैं मूँदि भानुमण्डल कब, है पवि-पञ्जर बाण ।
चढ़िहैं हरि कब बलि-वेदी पै, हँसि हँसि के यह प्राण ॥

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

[जन्म सम्वत् १९५५]

पंडित जी की रुचि बचपन से ही कविता की ओर रही है। पहिले यह सभाओं में संस्कृत और बंगला में कविता पढ़ा करते थे, पर बड़े होने पर इन का स्वाभाविक प्रेम हिन्दी पर हुआ। व्रजभाषा का ज्ञान तो थोड़ा बहुत पहिले ही से था, अपनी प्रखर बुद्धि से इन्होंने खड़ी बोली में भी प्रगल्भता प्राप्त कर ली।

कवि तो हैं ही बड़े प्रसिद्ध, और समालोचक भी हैं। इन्होंने एक बड़ी मार्मिक पुस्तक लिखी है, जिस में कविवर रवीन्द्रनाथ की कविताओं की समालोचना की गई है। खड़ी बोली में अतुकाँत कविता (Blank Verse) लिखने में आपको बहुत सफलता प्राप्त हुई है। इन की कविता में पश्चिम और पूर्व के भावों का मिलन बड़ा अनोखा होता है।

'निराला' जी की अनूठी और निराली शैली की कविताएं हिन्दी पत्रों और पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं।

———

भारत की विधवा

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।

षड्ऋतुओं का शृङ्गार,
कुसुमित कानन में नीरव पद-संचार,
अमर कल्पना में स्वच्छन्द विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है,
उसका एक स्वप्न अथवा है।

उसके मधु-सुहाग का दर्पण,
जिसमें देखा था उसने
बस एक बार बिम्बित अपना जीवन-धन,
अथवा हाथों का एक सहारा--
लक्ष्य जीवन का प्यारा--वह ध्रुवतारा--
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा।

हैं करुणा-रस से पुलकित इसकी आँखें,
देखा तो भीगीं मन-मधुकर की पाँखें,

मृदु रसावेश में निकला जो गुञ्जार
वह और न था कुछ, था बस हा-हा-कार।
　　उस करुणा की सरिता के मलिन-पुलिन पर,
लघु टूटी हुई कुटी का मान बढ़ाकर,
अति छिन्न हुए भीगे अञ्चल में मन को--
मुख-रूखे, सूखे अधर-त्रस्त चितवन को
वह दुनिया की नजरों से दूर बचाकर
है रोती अस्फुट स्वर में,
सुनता है आकाश धीर, निश्चल समीर--
मृदु सरिता की लहरें भी ठहर-ठहर कर।
　　यह दुःख वह, जिसका नहीं कुछ छोर है
दैव! अत्याचार कैसा घोर और कठोर है!
　　क्या कभी पोंछे किसी के अश्रुजल?
या किया करते रहे सबको विकल!
ओसकण-सा पल्लवों से झर गया
जो अश्रु, भारत का उसी से सर गया॥

तुम और मैं

(१)

तुम तुङ्ग हिमालय शृङ्ग और मैं चंचल गति सुरसरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कांत कामिनी कविता॥

तुम प्रेम और मैं शान्ति।
तुम सुरापान घन अंधकार,
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।

तुम दिनकर के खर-किरण जाल मैं सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग मैं हूँ पिछली पहिचान॥

तुम योग और मैं सिद्धि।
तुम हो रागानुग निश्छल तप,
मैं शुचिता सरल समृद्धि॥

(२)

तुम मृदु-मानस के भाव और मैं मनोरंजिनी भाषा।
तुम नंदन-वन-घन-विटप और मैं सुख-शीतल-तल शाखा॥

तुम प्राण और मैं काया।
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म,
मैं मनमोहिनी माया।

तुम प्रेममयी के कंठहार मैं वेणी काल नागिनी।
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार मैं व्याकुल विरह रागिनी

तुम पथ हो मैं हूँ रेणु।
तुम हो राधा के मन-मोहन,
मैं उन अधरों की वेणु॥

(२)

तुम पथिक दूर के श्रान्त और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भवसागर दुस्तार पार जाने की मैं अभिलाषा॥
तुम नभ हो मैं नीलिमा।
तुम शरद-सुधाकर-कला हास,
मैं हूँ निशीथ-मधुरिमा।
तुम गंध कुसुम कोमल पराग मैं मृदुगति मलय समीर।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष मैं प्रकृति प्रेम जंजीर॥
तुम शिव हो मैं हूँ शक्ति।
तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र,
मैं सीता अचला भक्ति॥
तुम हो प्रियतम मधुमास और मैं पिक कल-कूजन तान।
तुम मदन पञ्च-शर-हस्त और मैं हूँ मुग्धा अनजान॥
तुम अम्बर मैं दिग्वसना।
तुम चित्रकार घन-पटल श्याम,
मैं तड़ित्तूलिका-रचना।
तुम रण-ताण्डव-उन्माद नृत्य मैं युवति मधुर नूपुर-ध्वनि।
तुम नाद वेद ओंकार सार मैं कवि-शृङ्गार-शिरोमणि॥

तुम यश हो मैं हूँ प्राप्ति।
तुम कुंद-इंदु-अरविंद-शुभ्र,
तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति॥

—:o:—

सुभद्राकुमारी चौहान

[संवत् १९६१—]

श्रीमती सुभद्राकुमारी का स्थान हिन्दी की वर्तमान स्त्री कवियों में सब से ऊंचा है। इन की कविता शुद्ध परिमार्जित खड़ी बोली में होती है। इन को 'मुकुल' नामक कविता-संग्रह पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की ओर से ५००) रु० का पारितोषिक मिल चुका है। प्रसादगुण और प्रांजलता इन की रचनाओं की विशेषता है। आप राष्ट्रीय कवयित्री हैं। इन्होंने असहयोग-आन्दोलन में भी भाग लिया। जबलपुर और नागपुर में दो बार राष्ट्रीय झंडा सत्याग्रह में गिरफतार हुई। देश का उज्ज्वल भविष्य इन का दृष्टिकोण है। असहयोग-आन्दोलन की समाप्ति पर आप साहित्य चर्चा में लग गई। तब से आप अपने पति श्री ठाकुर लक्ष्मण सिंह जी चौहान बी. ए, एल. एल. बी. के साथ हिन्दी की सेवा कर रही हैं। हिन्दी के वर्तमान पत्र पत्रिकाओं में इन की कविता बराबर निकला करती है और हिन्दी-संसार में रुचि से पढ़ी जाती है। गद्य में भी खूब लिखती हैं।

मातृ-मन्दिर में

व्यथित है मेरा हृदय प्रदेश
चलूं किस को बहलाऊं आज ?
बता कर अपना दुख-सुख उसे
हृदय का भार हटाऊं आज॥
चलूं मां के पद-पङ्कज पकड़
नयन-जल से नहलाऊं आज।
मातृ-मन्दिर में मैंने कहा —
चलूं दर्शन कर आऊं आज॥
किन्तु यह हुआ अचानक ध्यान
दीन हूं, छोटी हूं अज्ञान।
मातृ-मन्दिर का दुर्गम मार्ग
तुम्हीं बतला दो हे भगवान !
मार्ग के बाधक पहरेदार;
सुना है ऊंचे से सोपान।
फिसलते हैं ये दुर्बल पैर
चढ़ा दो मुझ को हे भगवान !

अहा ! वे जगमग-जगमग जगीं
ज्योतियां दीख रही हैं वहां।
शीघ्रता करो, वाद्य बज उठे
भला मैं कैसे जाऊं वहां ?

सुनाई पड़ता है कलगान;
मिला दूं मैं भी अपनी तान।
शीघ्रता करो, मुझे ले चलो
मातृ-मन्दिर में हे भगवान !!

चलूं मैं जल्दी से चढ़ चलूं
देख लूं मां की प्यारी मूर्ति।
अहा! वह मीठी सी मुसकान
जागती होगी न्यारी स्फूर्ति।

उसे भी आती होगी याद?
उसे हां, आती होगी याद।
नहीं रूठूंगी मैं, लो, आज
सुनाऊंगी उस को फरियाद॥

कलेजा मां का, मैं सन्तान,
करेगी दोषों पर अभिमान।
मातृ-वेदी पर घण्टा बजा,
चढ़ा दो मुझ को हे भगवान॥

सुनूंगी माता की आवाज़,
रहूंगी मरने को तैयार।
कभी भी उस वेदी पर देव!
न होने दूंगी अत्याचार॥

न होने दूंगी अत्याचार
चलो मैं हो जाऊं बलिदान।
मातृ-मन्दिर में हुई पुकार-
चढ़ा दो मुझ को हे भगवान !!

ठुकरा दो या प्यार करो

देव ! तुम्हारे कई उपासक
कई ढङ्ग से आते हैं ।
सेवा में बहुमूल्य भेंट वे
कई रंग की लाते हैं ॥

धूमधाम से साजबाज से
मन्दिर में वे आते हैं ।
मुक्ता-मणि बहुमूल्य वस्तुएँ
लाकर तुम्हें चढ़ाते हैं ॥

मैं ही हूँ गरीबनी ऐसी
जो कुछ साथ नहीं लायी ।
फिर भी साहस कर मन्दिर में
पूजा करने हूँ आयी ॥

धूप दीप नैवेद्य नहीं है
झाँकी का शृङ्गार नहीं ।
हाय गले में पहनाने को
फूलों का भी हार नहीं ॥

मैं कैसे स्तुति करूँ तुम्हारी
है स्वर में माधुर्य नहीं ।
मन का भाव प्रकट करने को
वाणी में चातुर्य नहीं ॥

नहीं दान है, नहीं दक्षिणा
खाली हाथ चली आयी।
पूजा की विधि नहीं जानती
फिर भी नाथ ! चली आयी॥

पूजा और पुजापा प्रभुवर !
इसी पुजारिन को समझो।
दान दक्षिणा और निछावर
इसी भिखारिन को समझो॥

मैं उन्मत्त-प्रेम की लोभी
हृदय दिखाने आयी हूँ।
जो कुछ है, बस यही पास है;
इसे चढ़ाने आयी हूँ॥

चरणों पर अर्पित है, इस को
चाहो तो स्वीकार करो।
यह तो वस्तु तुम्हारी ही है—
ठुकरा दो या प्यार करो॥

महादेवी वर्मा

[जन्म संवत्—१९६४]

कविता के रहस्यवाद स्कूल की आप एक मात्र प्रतिनिधि कवयित्री हैं। आपकी रचना में कोमल-रसों का प्रस्फुटन हुआ है, जो आप के आंतरिक वेदनामय मनोरहस्य का उद्घाटन करता है। प्रकृति में, अंतरिक्ष में, असीम और सीम के अंतराल में सर्वत्र आप एक करुण-रागिनी का संगीत सुनती हैं। आप की कविताएं हिन्दी की तमाम मुख्य पत्रिकाओं में प्रकाशित होती हैं और हिन्दी जगत में बड़े मान से पढ़ी जाती हैं। इतनी सी अवस्था में आप ने बहुत ख्याति प्राप्त कर ली है। आप के वर्तमान से आप के उज्वल भविष्य का संकेत होता है ईश्वर करे कि आप की लेखनी में इस से भी अधिक बल और प्रतिभा आवे ॥

—:o:—

मुरझाया फूल

था कली के रूप शैशव—
में अहो सूखे सुमन !
हास्य करता था खिलाती
अंक में तुझको पवन ।
खिल गया जब पूर्ण तू—
मञ्जुल सुकोमल पुष्पवर !
लुब्ध मधु के हेतु मंडराने
लगे आने भ्रमर ।
स्निग्ध किरणें चन्द्र की—
तुझको हँसाती थीं सदा,
रात तुम पर वारती थी
मोतियों की सम्पदा ।
लोरियां गा कर मधुप
निद्रा विवश करते तुझे,
यत्न माली का रहा—
आनन्द से भरता तुझे ।
कर रहा अठखेलियां—
इतरा सदा उद्यान में !
अन्त का यह दृश्य आया—

था कभी क्या ध्यान में ?

सो रहा तू अब धरा पर—
शुष्क बिखराया हुआ,
गन्ध कोमलता नहीं
मुख मंजु मुरझाया हुआ।
आज तुझ को देख कर
चाहक भ्रमर आता नहीं,
लाल अपना राग तुझ पर
प्रात बरसाता नहीं।
जिस पवन ने अङ्क में—
ले प्यार था तुझको किया,
तीव्र झोंके से सुला
उसने तुझे भू पर दिया।
कर दिया मधु और सौरभ
दान सारा एक दिन,
किन्तु रोता कौन है
तेरे लिये दानी सुमन!
मत व्यथित हो फूल! किसको
सुख दिया संसार ने!
स्वार्थमय सब को बनाया—
है यहां करतार ने।

विश्व में हे फूल ! तू
सब के हृदय भाता रहा !
दान कर सर्वस्व फिर भी
हाय हर्षाता रहा।
जब न तेरी ही दशा पर
दुख हुआ संसार को,
कौन रोयेगा सुमन !
हम से मनुज निःसार को ?

—:o:—

फुटकर

१—रैदास

२—गुरु नानक

३—रसखान

४—सेनापति

५—देव

६—माधव प्रसाद मिश्र

७—मुकुटधर

८—बदरीनाथ भट्ट

९—जयशंकर प्रसाद

—:०:—

सच्ची भक्ति

भगति ऐसी सुनहु रे भाई।
आई भगती तब गई बड़ाई॥

कहा भयो नाचे अरु गाये कहा भयो तप कीन्हें।
कहा भयो जे चरन पखारे जौं लौं तत्व न चीन्हें॥
कहा भयो जो मूंड मुंडायो कहा तीर्थ व्रत कीन्हें।
स्वामी दास भगत अरु सेवक परम तत्व नहिं चीन्हें॥
कह 'रैदास' तेरी भगति दूर है भाग बड़े सों पावे।
तजि अभिमान मेटि आपा पर पिपलिक है चुनि खावे॥

(रैदास)

—:०:—

आत्म ज्ञान

काहे रे बन खोजन जाई ।
सर्व निवासी सदा अलेपा तोहि सङ्ग समाई ॥
पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है मुकर माँहि जस छाई ।
तैसे ही हरि बसे निरन्तर घट ही खोजो भाई ॥
बाहर भीतर एके जानो यह गुरु ज्ञान बताई ।
जन 'नानक' बिन आपा चीन्हें मिटे न भ्रम की काई ॥

(गुरु नानक)

—०:०—

कृष्ण-कीर्तन

सवैया

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‌यो कर छत्र पुरंदर-कारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दि-कूल कदंब कि डारन॥

—:०:—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूं पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवो निधि को सुख नंद की गाइ चराइ बिसारौं॥
रसखानि कबौं इन आँखिन सों ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हौं कलधौत के धाम करील की कुंजन ऊपर वारौं॥२॥

—:०:—

सेस, महेस, गनेस, दिनेस, सुरेसहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि, अनंत, अखंड, अछेद, अभेद, सुबेद बतावैं॥
नारद से सुक व्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं॥३॥

—:०:—

धूरि भरे अति सोभित स्यामजू तैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत खात फिरैं अँगना, पग पैंजनी बाजतीं, पीरी कछोटी॥

वा छबि को रसखानि विलोकत वारत काम कलानिधि कोटि ।
काग के भाग कहा कहिए हरि-हाथ सों लै गयो माखन रोटी ॥४॥

(सुजान रसखान)

—:o:—

शिशिर-ऋतु

सिसिर मैं ससि को सरूप पावै सविताऊ
घामहूँ मैं चाँदनी की दुति दमकति है।
सेनापति होति सीतलता है सहसगुनी
रजनी की झाँई बासरमैं झमकति है॥
चाहत चकोर सूर ओर दृग छोर करि
चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।
चंद के भरम होत मोद है कुमोदनी को
ससि संक पंकजनी फूलि न सकति है॥१॥

सिसिर तुषार के बुखार से उखारतु है
पूस बीते होत सून हाथ पाइ ठिरिकै।
द्योस की छुटाई की बड़ाई बरनी न जाइ
सेनापति गाई कछु सोचि कै सुमिरिकै॥
सीत ते सहस कर सहस चरन ह्वै कै
ऐसे जातु भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौलौं कोक कोकी को मिलत तौलौं होत राति
कोक अधबीच ही तें आवतु है फिरिकै॥२॥

(सेनापति)

देव-पुष्प

कोई कहौ कुलटा कुलीन अकुली कहौ
कोई कहौ रंकिनी कलंकिनी कुनारी हौं।
कैसो नर लोक परलोक वर लोकनि मैं
लीन्हीं मैं अलोक लोक लोकनि ते न्यारी हौं॥
तन जाउ, मन जाउ, "देव" गुरुजन जाउ,
प्रान किन जाउ, टेक टरति न टारी हौं।
वृन्दावन वारी बनवारी की मुकुट वारी
पीतपट वारी वहि मूरत पै वारी हौं ॥१॥

कुल की सी करनी कुलीन की सी कोमलता
सील की सी संपति सुसील कुल कामिनी।
दान को सो आदर उदारताई सूर की सी,
गुन की लुनाई गज गति गजगामिनी॥
ग्रीषम को सलिल सिसिर कैसो घाम "देव"
हेमँत हँसत जलदागम की दामिनी।
पूनो को सो चन्द्रमा प्रभात को सो सूरज
सरद को सो बासर बसन्त की सी जामिनी ॥२॥

(देव)

युवा संन्यासी

गुण-निधान मतिमान सुखी सब भाँति एक जयपुर-वासी।
युवा अवस्था बीच विप्र-कुल-केतु हुआ है संन्यासी॥
वृद्ध पिता-माता की आशा बिन ब्याही कन्या का भार।
शिक्षा हीन सुतों की ममता पतिव्रता नारी का प्यार।
सन्मित्रों की प्रीति और कालिज वालों का निर्मल प्रेम।
त्याग, एक अनुराग किया उस ने विराग में तज सब नेम॥
"प्राणनाथ! बालक सुत दुहिता"— यों कहती प्यारी छोड़ी।
हाय! वत्स! वृद्धा के धन!! यों रोती महतारी छोड़ी॥
चिर सहचरी "रियाज़ी" छोड़ी, रम्यतटी रावी छोड़ी।
शिखा-सूत्र के साथ हाय! उन बोली पञ्जाबी छोड़ी॥
धन्य पञ्चनद-भूमि जहां इस बड़भागी ने जन्म लिया।
धन्य जनक-जननी जिन के घर इस त्यागी ने जन्म लिया॥
धन्य सती जिस का पति मरने से पहले हो जाय अमर।
धन्य धन्य सन्तान पिता जिन का जगदीश्वर पर निर्भर॥

(माधव प्रसाद मिश्र)

स्वागत

स्वागत हे सुन्दर सुकुमार !
आओ हृदय-मार्ग से मेरे प्रियतम प्राणाधार !
आओ हे घनश्याम उदार !

आओ, प्रेम-वारि बरसाओ
विटप बेलियों में लहराओ
आओ, झरनों से मिल गाओ
हे कवि-कुशल अपार ॥ १ ॥

आओ ऊषा के संग आओ
किरणों के मिस कर फैलाओ
विकसत अमल कमल वन जाओ
पहनो मुक्ताहार ॥ २ ॥

सरस-वसन्तानिल सरसाओ
श्रावण-घन बन कर नभ छाओ
शरदाकाश-विलास दिखाओ
चारु चन्द्रिकागार ॥ ३ ॥

आओ, भाव-सरित बन धाओ
हृदयस्थित सब कलुष बहाओ
तन मन नयन मध्य भर जाओ
मोहन ! छवि-आधार ॥ ४ ॥

स्वागत, हे सुन्दर सुकुमार !

(मुकटधर)

झूठे स्वामी

इसे ही कहते हैं वैराग्य ?
तो विरागता के सचमुच ही फूटे समझें भाग्य !
निर्मल बसन बिगाड़ा उस पर धरा सुनहरी रंग।
लज्जित हुआ जाल माया का देख जटा का ढंग।
क्रोध कमण्डलु, मोह माल, कर लिया द्रोह का दंड।
लोभ लंगोट बाँध फैलाते हो प्रचंड पाखंड॥
तन में भस्म रमाई, कर के भस्म सभी घर बार।
अब चिमटा ले निकल पड़े थे करने जग उद्धार॥
घर घर टुकड़े मांग रहे हो तप के बल हो धन्य !
दर दर नित धक्के खाते हो अहो कष्ट तप-जन्य !
चोरी, जुवा, लफंगेपन में हो तुम गुरुघंटाल।
गांजा, भंग, अफीम, चरस रस मदिरा के हो काल॥
संसृति में खुद फंसे हुए हो हमें दिखाते मुक्ति !
धन्य धन्य अध्यात्मशक्ति को, धन्य मुक्ति की युक्ति !
बहुत हो चुकी गुरुडम-लीला अब इस से मुँह मोड़।
बाबा जी अब बन मनुष्य तू बनमानुषपन छोड़॥

(बदरीनाथ भट्ट)

अव्यवस्थित

विश्व के नीरव निर्जन में,

जब करता हूँ केवल चंचल

मानस को कुछ शान्त,

होती है कुछ ऐसी हलचल

तब होता है भ्रान्त—

भटकता है भ्रम के वन में

विश्व के कुसुमित कानन में।

जब लेता हूँ आभारी हो

वल्लरियों से दान,

कलियों की माला बन जाती

अलियों का हो गान;

विकलता बढ़ती हिमकन में

विश्वपति तेरे आंगन में।

जब करता हूं कभी प्रार्थना

कर संकलित विचार।

तभी कामना के कंकण की

हो जाती झनकार,

चमत्कृत होता हूं मन में

विश्व के नीरव निर्जन में।

(जयशंकर प्रसाद)

टीका टिप्पणी

कबीर

कबीर जी की सखियां (दोहे) भक्ति रस में सनी हुई हैं, इन में एक ईश्वर की पूजा, मन की शुद्धि, सादगी, प्रेम, सन्तोष, धृति, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, परोपकार, सत्य-भाषण, अहिंसा आदि सर्वसाधारण धर्मों का उपदेश किया गया है। झूठे साधुओं और निंदक लोगों का जी खोल कर तिरस्कार किया गया है। अब इन के दोहों का यूरूप की भाषाओं में भी अनुवाद होने लगा है।

शब्द भजनों का ही रूप हैं। लोग इन्हें बड़े चाव से गाते हैं। इन का मन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। शब्दों के एक एक अक्षर में शिक्षा भरी पड़ी है। कौन ऐसा पुरुष है जिस के मन में अन्तिम शब्द पढ़ कर वैराग्य उत्पन्न न होता होगा ?

पृष्ठ ३

आदि नाम—ईश्वर का नाम, ओ३म्।

परसते—छूते हुए।

कंचन—सोना।

दहुं—दसों।

गहे—पकड़ता है।

कित—कहां

पृष्ठ ४

नारी—१स्त्री, २ नाड़ी।

वेदन—वेदना, पीड़ा।

सांकरी—तंग।

घट—देह।

पृष्ठ ५

लेंहड़े—झुंड।

पांत—कतार

व्याधि—रोग।

उपाधि—उपद्रव।

निवाजई—शरण में लेना।

सिर—शरीर का मोह।

सिर—मर्यादा, मान।

मंडि रहना—मस्त होना।

पृष्ठ ६

गारी—गाली।

हते—मारे।

साले—चुभती है।

सहल—सहल, आसान।

बाट—मार्ग।

घन—हथौड़ा।

ढंढोरै—खोजे, तलाश करे।

माछुरी—मछली।

पृष्ठ ७

पैंठ—मेला।

लार—राल, थूक।

पतीजई—विश्वास करता।

गोरस—दूध दही।

बहुरि—फिर।

साहंसाह—महाराजाधिराज।

पृष्ठ ८

कनक—सोना अर्थात् धन।

काभिनि—स्त्री।

चोंप—चाह, इच्छा।

पृष्ठ ९

बिरानी—दूसरों की।

गहि—पकड़ कर।

अघाय—पेट भर लेना, संतुष्ट होना।

पृष्ठ १०

बसाहिगा—बस चलेगा।

संजम—नेम, व्रत।

अहंबुधि—अहंकार।

सास ग्रास—सांस (हवा) और भोजन।

त्रिषा—प्यास।

उनमत—पागल।

काष्ट—काठ।

निस्तारयो—मुक्त किया।

पृष्ठ ११

टाटी—टट्टी।

दुवित—बुराई।

वलेडा—छप्पर।

जनु—जन्म।

भुजा—बाहु।

तिरिया—स्त्री।

जस—जैसे।

लाह—लाख।

—:o:—

सूरदास

पदावली में सूरदास जी के भजन हैं। कुछ भजन ईश्वर-स्तुति, प्रभु-भक्ति महिमा, जीवन-उद्देश और वैराग्य पर हैं। शेष पद श्रीकृष्ण की बाल-लीला वर्णन करते हैं। श्री कृष्ण माता यशोदा से चन्द्रमा की याचना करते हैं, बलदाऊ की शिकायत लगाते हैं, माखन की चोरी के अभियोग से बचने के लिए सफाई पेश करते हैं, इत्यादि दृश्य मन को मोह लेते हैं। सूरदास ने बालक के मनोभावों का चित्रण करने में कमाल कर दिखाया है।

पृष्ठ १३

पंगु—लूला।

मूक—गूंगा।

सूकर—कूकर—सूअर और कुत्ते

विग—भेड़िया।

भुजंगम—सांप।

कंदरनि—गुफाओं में।

अनैसे—बुरे।

आपुन पो—अपनापन, आत्माभिमान।

चन्द्रा—मरन के समय की टकटकी

किन—क्यों न।

पृष्ठ १४

धौरी—कपिला गौ।

पय—दूध।

बेनी—चोटी।

वेहौं—आऊंगा।

दाऊ—कृष्ण का बड़ा भाई, बलराम

रिस—क्रोध।

तातु—पिता।

चबाई—झूठी बात कहने वाला।

धूत—धूर्त, त्यक्त पुरुष।

पृष्ठ १५

पठायो—भेजा।

बरबस—जबरदस्ती।

उर—छाती।

धिरयो—धमकाया, डांटा।

पृष्ठ १६

कनियां—गोद में।

निछनियां—एक दम, बिल्कुल।

हलधर—हल उठाने वाला, बलराम।

बिनन—एकत्रित करना, चुनना।

पनिघट—पानी भरने का घाट।

पृष्ठ १७

घरनाव—घर का अटाला।

अधर—होंठ।

पनहि करो—प्रण को पूरा करो।

बधिक—शिकारी।

सुरसरि—गंगा।

तुलसी दास

तुलसी दास जी की कविताओं पर पहिले भी बहुत कुछ कहा गया है। हनुमान ने जिस समय रावण की राजधानी में आग लगाई, तो उस समय जो खलभली मची,

इस का वर्णन पहिली कविता में आता है। भाषा बड़ी जटिल है, पर शब्दों का चुनाव इस ढंग से किया है कि पढ़ने वालों के मन पर भी प्रचण्ड अग्नि के दाह का आतंक छा जाता है। दोहे और चौपाइयां रामायण से ही ली गई हैं। वास्तव में इन का आनन्द उन्हीं को आता है, जो इन्हें रामायण का अध्ययन करते हुए पढ़ते हैं। इस संग्रह में कुछ शिक्षाप्रद और नैतिक दोहे तथा चौपाईयां उद्धृत की गई हैं।

पृष्ठ २०

व्योम—आकाश।

वालधी—पूँछ।

धूमकेतु—अग्नि।

सुरेस-चाप—इन्द्र-धनुष।

कृसानु—अग्नि।

जातुधान—राक्षस।

पृष्ठ २१

बुबुकना—ज़ोर २ से रोना।

निकेत—घर।

महिष—भैंसा।

बृषभ—बैल।

मारुत—पवन-सुत, हनुमान।

परानी—भागी।

मींजि—रगड़ कर।

पृष्ठ २२

घने—बहुत।

घालि है—उजाड़ता है।

डाढ़त—जलाती है।

दससीस-तिय—रावण की स्त्रियाँ।

अगार—घर, अटारी।

लुनियतु—काटना।

धौज—विचार।

सौंज—शय्या, सामग्री।

ओंजना—ऊबना ।

पावक—आग ।

पृष्ठ २३

आवरे या रावरे—अपने या पराये ।

हाटक—सोना ।

पागि-पागि—लपेट लपेट कर ।

पवमान—वायु, हनुमान ।

ओत—वस्त्र की कमी ।

मनाक—थोड़ा ।

समीर-सूनु—पवन-सुत हनुमान

सरवाक—प्याला या दीया ।

पयोधि—समुद्र ।

बुट—बूटी ।

पृष्ठ २४

जातरूप—सोना ।

पुटपाक—पत्ते का डोना ।

मृगांक—एक प्रकार का रस ।

भावार्थ—जैसे डोने में सोने को बूटी के साथ डालकर भस्म बनाते हैं इसी प्रकार लंका में रतनों को राक्षसों के साथ भस्म कर दिया ।

पृष्ठ २५

निमिष—पल भर में ।

छोभ—क्षोभ ।

पोच—बुरा ।

प्रपंच रत—धोखा बाज़ ।

सिख—शिक्षा ।

अघाइ—जी भर कर ।

समर—रणक्षेत्र में ।

गाडर—भेड़ ।

पृष्ठ २६

असन बसन—खाना और वस्त्र ।

बाजि—घोड़े ।

उरग—सांप ।

तुरग—घोड़ा ।

मनोज—काम ।

पृष्ठ २७

अघ—पाप ।

जवास—तृण विशेष, गरमी के

दिनों में इसकी टट्टी बनाई जाती है।

सारदूल—बाघ।

पामर—दुष्ट, पापी।

पावस—वर्षा ऋतु।

दादुर—मेंढक।

इंदु—चंद्रमा।

तऊ—तो भी।

पृष्ठ २८

रज—धूलि, भाव थोड़ा सा।

असि—ऐसी

दुरावा—छुपावे।

स्रुति—वेद।

अहि—सांप।

पृष्ठ ३०

सोचिय—शोक करने योग्य है।

वयसु—उम्र।

विप्र—ब्राह्मण।

कलह—झगड़ा।

बटु—ब्रह्मचारी, विद्यार्थी।

सानी—सनी हुई, भरी हुई।

पृष्ठ ३१

धरनि—पृथ्वी।

बधिर—बहरा।

काय—शरीर।

आन—और, दूसरा।

पृष्ठ ३२

निकृष्ट—अधम।

रौरव नरक—अति कष्टदायक नरक का नाम है।

तरुनाई—युवावस्था।

रहीम ख़ान

रहीम के दोहे निश्चय ही अमृत-रूप हैं। साधारण नीति, आचार व्यवहार तथा लोक मर्यादा पर जिन कवियों ने कविता लिखी है, उन में रहीम का नाम सब से पहिले लिया जाता है। भाषा अत्यन्त सरल और सरस है।

पृष्ठ ३४

रिस की गाँस—क्रोध की धार ।

मधुकरी—भीख ।

दाव—आग ।

पृष्ठ ३५

केर—केला ।

बाय—प्राण वायु, श्वास ।

सजाय—सजा, दण्ड ।

अंबुज—कमल ।

अंबु—जल ।

बापुरो—बिचारा ।

करी—१ की, २ हाथी ।

पृष्ठ ३६

बारे उजिआरो लगै,
बढ़े अँधेरो होय ।

(१) दीप के साथ यह अर्थ होगा कि इस के जलने से उजयाला और बुझाने से अँधेरा हो जाता है ।

(२) कुपूत के विषय में अर्थ होगा कि इस के बचपन में माता पिता को हर्ष होता है, पर युवावस्था में दुःख ।

बारे—जलाने पर, बचपन में ।

बढ़े—बुझाने पर, बढ़ने पर ।

रीते—खाली ।

वित—धन ।

गाढ़े दिन—संकट का समय ।

पृष्ठ ३७

उदत—उदय होता है ।

अथवत—अस्त होता है ।

स्वान—कुत्ता ।

पृष्ठ ३८

कलारी—कलाली, शराब बेचने वाली ।

मद—शराब ।

पानी—जल, मान-प्रतिष्ठा, मोती की चमक ।

अगम्य—न जाने योग्य, कठिन, प्रभु-दर्शन ।

पृष्ठ ३९

बिपान—सींग

कानन—वन।

मराल—हंस।

पृष्ठ ४०

उलूक—उल्लू।

सर—तीर।

लटी—गप।

पृष्ठ ४१

गगन—आकाश।

तिरै—पार होवे।

घाम—गरमी।

गोय—छुपाकर।

सुन्दर

सुन्दर के विचार नितान्त सुन्दर हैं। सच्चे गुरु, सच्चे वीर, सच्चे प्रभु-भक्त और सच्चे पुरुष के क्या उत्तम गुण बताये हैं! शिक्षा भी कितनी उत्कृष्ट है! वाह! वाह!!

पृष्ठ ४३

रोष-तोष—क्रोध और खुशी।

हय-गय—घोड़े, हाथी, धन, प्राण इत्यादि।

सिंधु-राग—रण-भूमि में गाने का राग, जो मारूराग से मिलता जुलता है।

सुभट—सूरमा।

पृष्ठ ४४

ससि—चन्द्रमा।

पूत—अर्थात् मन, मन आत्मा से उत्पन्न होने के कारण उस का पुत्र है।

संक—शंका।

धीजिए—विश्वास करें।

पृष्ठ ४५

जोरिये—कविता कीजिये।

छठी कवित्त में सुन्दर ऐसे पुरुष को वंदना करता है जिसे धन धूलि

के समान है, वा धन और धूलि समान हैं, इत्यादि।

पृष्ठ ४७

पूतरी--पुतली।

बिहारी लाल

बिहारी सतसई का एक एक दोहा हिन्दी साहित्य का रत्न माना जाता है। इन दोहों के रस के हृदय पर ऐसे स्निग्ध छींटे पड़ते हैं कि मन खिल उठता है। इन का आनन्द विद्यार्थी गण बड़ी आयु में ले सकेंगे, क्योंकि कविता अधिकतर शृंगार-रस की है और भाव बड़े गूढ़ हैं। बिहारी लाल जी गागर में सागर भर देते हैं। हम ने केवल नीति सम्बन्धि सूक्तियाँ चुन कर पाठकों की सेवा में रखने का प्रयत्न किया है।

पृष्ठ ४९

दावानल--वन की आग।

बैस--आयु।

आतप--धूप।

दीठ--चितवन।

दाघ निदाघ--बड़ी गरमी।

पृष्ठ ५०

चटक--कांति, चमक-दमक

नेह--प्रेम, तेल।

अलि--भँवरा।

कनक--१. स्वर्ण २. धतूरा।

बौरात--पागल होते हैं।

गँवई--छोटा गाँव।

पृष्ठ ५१

सराध-पख--श्राद्धों का पक्ष (दो सप्ताह)।

सुवा--तोता ।

वायस--कव्वा ।

विरिया--समय, घड़ी ।

पाहन--पत्थर ।

पतवारी--नाव का पिछला अंग ।

पृष्ठ ५२

दई-दई--१. हाय हाय, २. ईश्वर

अनाकनी--टाल-मटोल ।

गुहारि--दुहाई ।

जगवाय--संसार की हवा ।

जदुपति--यादवनाथ, कृष्ण ।

पृष्ठ ५३

ऊथरो--गदला ।

मयंक--चन्द्रमा ।

विरद--बड़ाई, यश ।

विडारि--भयभीत करके भगाना ।

भूषण

भूषण की कविता अत्यन्त ओजस्विनी और वीर-दर्प पूर्ण है । शिवाजी और औरंगज़ेब की लड़ाईयों का हाल सब को मालूम है । भूषण ने औरंगज़ेब की पोल खोल कर शिवा जी का वीरत्व दिखाया है । निश्चय ही यदि शिवाजी जन्म न लेते तो हिन्दुओं का नाम तक मिट चुका होता । कौन है जिस के हृदय में इन कविताओं को पढ़ कर जोश पैदा न होता हो ?

पृष्ठ ५५

जब भूषण शिवाजी से पहिली बार मिले तो उन्हें यह कवित्त सुनाया । शिवाजी ने इसे २१ बार सुना और उतने ही ग्राम, हाथी, घोड़े इत्यादि भूषण को पुरस्कार में दिये ।

जम्भ--एक दैत्य ।

वारिवाह—मेघ।
रति नाह—कामदेव।
वितुण्ड—हाथी।
चतुरंग—सेना।
सरजा—सिंह, सरदार।
सैल—पहाड़।
पारावार—समुद्र।

पृष्ठ ५६

मन्दिर—राजभवन।
कन्द-मूल—१. कन्द आदि मिठाईयां। २. कन्द और जड़ें।
तीन बेर—१. तीन बार २. तीन बेर।
भूषन—भूषणों से।
भूखन—भूख से।
बिजन—१. पंखा २. वन।
नगन जड़ातीं—१. नगीनों से जड़ी हुईं २. नंगी होने के कारण ठिठरती हैं।
सोंधे—सोंधा नमक।
चारि को सो अंक—४, पतली कमर से तात्पर्य है।

पृष्ठ ५७

पिछौरा—चादर।
धरा—पृथ्वी।
समसेर—तलवार।
दिवाल—दीवार, मर्यादा।

पृष्ठ ५८

देवल—मन्दिर।

पृष्ठ ५९

जामिनी—रात।
दामिनी—बिजली।
पूषन-देव—सूर्य देव।
खुमान—बड़ी आयु वाला।
बभूरे—बबूले।
दीनहिं—मजहब को।
नाख्यो—फेंक दिया।
नौरंग—औरंगजेब।

पृष्ठ ६०

सैली—मर्यादा।

सिगरे—सारे ।

छिति—पृथ्वी ।

छाजै—सजता है ।

मही—पृथ्वी ।

वृन्द

वृन्द की सूक्तियां रहीम के दोहों की तरह साधारण नीति, कर्म धर्म और शास्त्र मर्यादा पर हैं । भाषा अलंकारिक है । वृंद ने स्थान स्थान पर अच्छी घटती हुई और सुन्दर उपमाओं का विधान किया है ।

विद्यार्थीगण रहीम और वृन्द की आलोचनात्मक तुलना करें ।

पृष्ठ ६२

भेषज—दवाई ।

छीलर—छोटा सा गड्ढा, चौबचा ।

पिसुन—चुगलखोर, निन्दक ।

दाध्यो—जला हुआ ।

बिरवा—वृक्ष ।

पृष्ठ ६३

छीर—दूध ।

गात—शरीर ।

सेत—सफ़ेद ।

तोय—जल ।

आंक—अंक, चिन्ह ।

पृष्ठ ६४

निबौरी—नीम वृक्ष का फल ।

सौर—चादर ।

गैर—अत्याचार, अनुचित बर्ताव ।

निदान—मूल कारण ।

करी—हाथी ।

बिभौ—विभव, बड़ाई ।

पृष्ठ ६५

तृन—तिनका ।

कर—हाथ ।

उमहै—उमड़ता है ।

रुधिर—लहु ।

अहीरी—ग्वालिन ।

पानि—हाथ में ।

तूल—रुई ।

पृष्ठ ६६

निहुरै—झुकता है, नम्र होता है ।

कोटि—१. करोड़, २. सिरा ।

रिस—क्रोध ।

गिरिधर कविराय

गिरधर की कुंडलियाँ ग्राम ग्राम में प्रसिद्ध हैं। अनपढ़ लोग भी दो चार चरण जानते हैं। इस लोकप्रियता का कारण यही है कि इन की भाषा सीधी सादी और भाव सच्चे हैं। "इन में न तो अनुप्रास आदि द्वारा भाषा की सजावट है, न उपमा उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार।" घर गृहस्थी के साधारण व्यवहार, लोकाचार आदि का बड़े स्पष्ट शब्दों में इन्होंने कथन किया है। खूबी यह है कि एक एक कुंडली में एक विषय पर व्याख्यान दिया है।

पृष्ठ ६८

अपावन—अपवित्र ।

अपंग—लंगड़ा लूला असमर्थ ।

परतीति—विश्वास ।

अरि—शत्रु ।

पृष्ठ ६९

पाहुन—पाहुना अतिथि ।

धूर—एक घास होता है ।

पानी—मर्यादा ।

पृष्ठ ७०

ठांई—ठाँव, स्थान ।

पृष्ठ ७१

को—कौन ।

पृष्ठ ७२

लटपट—मिल के ।

बयारि—हवा ।

सियरे—शीतल ।

पौरि—ड्योढ़ी ।

अंक—गोद ।

पदमाकर

'गंगा नदी' पर कई एक कवियों ने कविताएं लिखी हैं। पदमाकर ने पौराणिक-मत को हमारे सामने पेश किया है। विचार एक ही है कि गंगा में स्नान करने से पाप छूट जाते हैं और मनुष्य मुक्ति को प्राप्त होता है। उसे नरक की आग का डर नहीं रहता क्योंकि वह स्वर्ग में जाता है।

पाठक-महाशय इस कविता की भारतेन्दु की कविता से तुलना करें।

पृष्ठ ७५

कोल—सूअर।

कचरिहौं—कुचल डालूं।

दगादार—धोखेबाज ।

कछार—नदी के किनारे की भूमि।

पाप को गंगा में कैसे नष्ट किया है।

पृष्ठ ७६

निपात—मृत्यु, नाश, पतन ।

दाह—अग्नि ।

गंगा में स्नान करने वाला नरक में

नहीं जाता ।

प्रेतनाह—यमराज ।

गरद—१ धूलि २ मिट्टी में मिला दिए । नष्ट कर दिए ।

पृष्ठ ७७

बिललानी—विलाप करती हैं ।

सुगात—सुशरीर ।

मीच—मौत ।

अटहर—अटाला ।

पृष्ठ ७८

धनेस—कुबेर ।

निगम-निदान—वेदान्त ।

तच्छुन—उसी समय ।

लोचन असम—शिवजी की तीन आंखें हैं, इसलिये असम नेत्र कहा ।

पृष्ठ ७९

सूधे—भोले, निष्कपट ।

झामी—धूर्त, चालाक ।

(११)...गंगा में स्नान करने वाले के लिये, उस के मरते समय, विष्णु ने गरुड़, ब्रह्मा ने हंस, शिव ने नंदी और इन्द्र ने विमान भेजा, प्रत्येक देवता उसे अपने लोक में रखना चाहता है ।

ग्वाल

ग्वाल कवि ने एक एक ऋतु का एक एक छंद में क्या खूब वर्णन किया है । कविता को पढ़ कर बसंत की बहार, गरमी की तपश, जेठ में अमीर लोगों की विलास-सामग्री, बरसात की बारात, शरद् ऋतु की निर्मलता और शीत काल की सरदी के दृश्य आंखों के सामने ऐसे आ जाते हैं मानो चित्रपट पर अंकित हैं ।

पृष्ठ ८२

वसन—वस्त्र

सोनजुही—एक पौधा।

स्वेद—पसीना

पृष्ठ ८३

मवास—आसरा, टट्टी।

कंज—कमल

तिलंगन—सिपाही।

तेह—वेग, घमंड।

इस में वर्षा ऋतु और कामदेव के युद्ध का दृश्य दिखाया है। सेना भी कैसे निराले ढंग की है।

अम्बर—आकाश।

पृष्ठ ८४

पंथिन—मुसाफिर।

सौरि—चादर।

मृगमद—कस्तूरी।

छाके—खा पी कर तृप्त हुए।

दीनदयाल गिरि

दीन दयाल गिरि की भाषा परिष्कृत, स्वच्छ और सुव्यवस्थित है। कहीं २ कुछ पुरबीपन आगया है, पर बहुत कम। भाव बड़े अछूते हैं। संसार एक पुष्प है, जिस में मनुष्य आकर भौर के समान फंस जाता है। बाबा जी ने संसार यात्रा करने वाले मनुष्य-पथिक को चेतावनी दे दी है, कि यह जगत तुम्हारा असली घर नहीं है। यहां से धर्म रूपी सौदा ले कर ठीक रास्ते पर चलो ताकि परमात्मा तक पहुँच सको। गिरिधर की कुंडलियों का विषय सांसारिक व्यवहार है। बाबा जी आत्मिक विषयों पर लिखते हैं॥

पृष्ठ ८६

सिख—शिक्षा ।

कोरि—करोड़ों ।

सारंग—भौंरा, कोयल ।

कंज—कमल ।

चंचरीक—भौंरा ।

दारु—लकड़ी ।

सेमर—दलदली जमीन ।

पृष्ठ ८७

नख-रद—नाखुन और दांत ।

जंबुक—गीदड़ ।

लंपट—विषयी ।

पृष्ठ ८८

आवागव—आवागमन, पुनर्जन्म ।

तरनी—नाव ।

गैल—मार्ग, कूचा ।

चीन्हत—पहचानता ।

पृष्ठ ८६

पाती—पत्र ।

मवासौं—स्थान, बसेरा ।

चर—चलायमान ।

सिधोरा—सिन्दूर रखने का पात्र ।

जनि—नहीं ।

कुन्त—भाला, बर्छी ।

पैहो—प्राप्त होवो ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन करने में भारतेन्दु सिद्ध-हस्त थे। न जाने यमुना और गंगा का इस प्रकार चित्र खींचने के लिए उन्होंने कितने दिन और कितनी रातें इन पवित्र नदियों के तट पर व्यतीत की होंगी। उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग भी बहुत सुन्दर किया है।

पदों में पहिला भजन अत्यन्त स्वाभाविक है। निश्चय ही यदि परमात्मा हमारी माता है, तो वह हमारी नीचता और धृष्ठता को क्यों नहीं भुला देता? अन्य पदों की सूरदास और कबीर के भजनों से अच्छी टक्कर होती है। इन की भाषा सरल और सरस है।

पृष्ठ ६४

तरनि-तनूजा—सूर्य की पुत्री यमुना।

कूल—किनारा।

मुकुर—शीशा।

आतप—धूप।

भ्रंगन—भौंरे।

मिसि—बहाने से।

पृष्ठ ६५

बगरे—फले।

राका—पूर्णमासी।

अवनी—पृथ्वी।

आभा—चमक।

पृष्ठ ६६

निसिपति—चन्द्रमा।

पारावत—कबूतर।

बक—बगला।

बालुका—रेत।

पाँवड़े—बिछौने।

पृष्ठ ६७

चिकुर—केश।

हरसि—हर्ष।

पृष्ठ ६८

पोहति—परोई हुई है।

सोपान—सीढ़ी।

मज्जन—स्नान करना।

सुर—देवता।

अंकम—गोद में।

पृष्ठ ६९

जुगल—दोनों।

अम्बुज—कमल ।

वारिधि—समुद्र ।

दीठी—दृष्टि ।

पृष्ठ १००

अरुझाई—उलझ कर, फँस कर ।

असि—तलवार ।

इनारुन—कुँवे को ।

कदली—केला ।

पृष्ठ १०१

(२) में ईश्वर की अपरम्पार लीला पर क्या विचित्र उपालम्भ है !

वैस—उम्र ।

प्रताप नारायण मिश्र

गोरक्षा क्यों आवश्यक है ? हिन्दुओं का गो माता के प्रति क्या कर्तव्य है ? इस बात को मिश्रजी ने थोड़े से शब्दों में ही भली भान्ति खोल दिया है। 'बुढ़ापा' भी एक रोग है। बड़ी ठेठ पूर्वी बोली में कवि ने इस रोग की तमाम अलामतें रोगी के मुख से कहलवाई हैं। कविता हास्य रस में सनी हुई और सुव्यवस्थित है ।

दोनों भजन आत्मिक और मानसिक सुधार पर हैं। शैली वही पुरानी है, भाषा भी कबीर जी के पदों की सी है ।

पृष्ठ १०३

वैतरनी—एक पौराणिक नदी जो यम के द्वार पर है और जिस को पार करके प्राणी को मरने के बाद जाना पड़ता है ।

मनइन—मनुष्य ।

असवार—घोड़ा।
जगदम्बा—जगत की माता, माँ।
कस—कैसे
रकत—लहु।

पृष्ठ १०४

नकुन्याय—तंग आ गये।
चटक—तेज।
खन—क्षण, समय।
निखवन—निश्चय ही।

बिरियां—समझ।
मूडुई—सिर पर।
याक—वाल।
रीरो—रीढ़ की हड्डी।
बूते—सहारे।

पृष्ठ १०५

नहिं—नहीं तो।
मींजि—मलकर।

नाथूराम शर्मा

एक उच्च जाति का नवयुवक भोगविलास के जीवन में किस प्रकार दुनियादारी से लापरवाह होकर सब कुछ खो बैठता है और अन्त में कंगाल बन कर पैसे पैसे को मोहताज हो जाता है, इस का पण्डित जी ने हृद्विदारक रीति से वर्णन किया है। इस कविता में शिक्षा भी है और करुणा भी। भाषा बड़ी सरल है, सहज में समझ में आ जाती है। दूसरी कविता में ईश्वर से देश की उन्नति, जातीयप्रेम और राष्ट्रीय उत्थान के लिए प्रार्थना की गई है।

पृष्ठ १०९

कर्पूर होना—दूर होना ।

वर्ण-उपाधि—ऊंचे वर्ण में उत्पन्न होने के कारण ऊंचा पद ।

पाग—पगड़ी ।

पृष्ठ ११०

निरंकुश—बेमुहार, स्वतन्त्र ।

कोश—खजाना ।

होड़—बाजी ।

बान—आदत ।

इनसालवेंट—दीवालिया ।

दुर्वाद—निंदा, बदनामी ।

पृष्ठ १११

विरद—यश, नाम ।

प्रतिभा—विचार-बुद्धि ।

ह्रास—अवनति, पतन ।

पृष्ठ ११२

व्यंजन—पकवान ।

महेरी—उबली हुई ज्वार ।

पृष्ठ ११३

घुने—घुन खाये हुए ।

बलाहक—बादल ।

विद्युद्—बिजली ।

पृष्ठ ११४

जगत—संसार, पृथ्वी ।

पृष्ठ ११५

अंकुर—बीज ।

पीयूष—अमृत ।

श्रीधर पाठक

हिमाचल पर्वत पर प्राचीन समय में तपस्वी और ऋषि महात्मा जंगल में मंगल करते थे। आज वहां पशु-पक्षियों के बिना कुछ दिखाई नहीं देता। कवि ने इसी शोक-जनक विचार को पहिली कविता में प्रगट किया है ।

दूसरी कविताओं में संगीत ही संगीत है, पढ़ते हुए एक रस-धारा का प्रवाह होने लगता है। दृश्य भी क्या कमाल का खींच के दिखाया है। कवि का मन उसी के सौंदर्य का पान करने में मग्न था कि छोटी सी घटना ने रंग में भंग कर दिया। सारी सैर का मज़ा किरकिरा हो गया। कवि-हृदय भी कितना कोमल होता है !

पृष्ठ ११७

विसालन—लम्बे चौड़े ।

द्रुम—वृक्ष ।

विहंगम—पक्षी ।

विश्व—संसार ।

पृष्ठ ११८

अटन—फिरना, सैर ।

रजनि—रात ।

ल्हिसा—लगा हुआ ।

अरविंद-निभ—कमल जैसा ।

सुविशाल—बड़ा लम्बा चौड़ा ।

दिनारि—रात ।

प्रखर—तेज़ ।

यातना—पीड़ा ।

पारणा—व्रत तोड़ना ।

उत्ताल—ऊंचा ।

आनन—मुख ।

पृष्ठ ११९

आर्ति-युत—पीड़ा-युक्त ।

दृग—आंख ।

महावीर प्रसाद द्विवेदी

मनुष्य जीवन क्या है? प्रकृति और पुरुष का क्या सम्बन्ध है? ईश्वर और जीव क्या हैं? इत्यादि अनेक

भौतिक, दैविक और अध्यात्मक बातें हैं, जिन पर हर एक मनुष्य को गहरे दिल से विचार करना चाहिये।

दूसरी कविता में भारत वर्ष की प्राचीन सभ्यता, धर्म-परायणता, सुख-संपत्ति, कार्य-दक्षता, वीरता और कीर्ति का बड़े आह्लाद-पूर्ण शब्दों में गिनाया है। काश कि वह युग फिर भी आता !

तीसरी कविता में कवि ने पाठकों को भारत की दुर्दशा की ओर ध्यान दिलाकर कर्तव्य पालन करने के लिए उभारा है।

पृष्ठ १२१

पचड़ा—बखेड़ा।

वारिद्—बादल।

पृष्ठ १२२

निशि—रात।

पृष्ठ १२३

सुततुल्य—बेटों के समान।

भामिनी—स्त्रियां।

वीरप्रसू—वीर पुत्र उत्पन्न करने वाली।

पृष्ठ १२४

शर चाप—तीर कमान।

शौर्य—वीरता।

पृष्ठ १२५

दिव्य—अलौकिक।

पृष्ठ १२६

कृतान्त—यम।

बाला-समूह—लड़कियां।

—:o:—

अयोध्यासिंह उपाध्याय

उपाध्याय जी की दोनों कविताएं सरल और सर्व प्रिय हैं। इन पर कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं। श्रीकृष्ण के वियोग में माता यशोदा का विलाप करुण-रस का सञ्चार करता है। दूसरी कविता में पूर्व और पश्चिम के कर्म वीरों का यशोगान गाया गया है। पाठक ! तू भी इन से शिक्षा ले और कुछ करके दिखा, कुछ बन के दिखा।

पृष्ठ १२६

विजित-जरा—जिसे बुढ़ापे ने जीत रखा है।

कुअंक—दुर्भाग्य।

किसलय—कोंपल।

वदन—मुख।

पृष्ठ १३०

सदन—महल।

खनि—खान।

मंजुता—सुन्दरता।

राम—बलराम।

सोता—स्रोत।

तिमिर—अंधेरा।

द्युति—चमक।

निर्जर—देवता।

सुअन—बेटा।

पृष्ठ १३१

निधि—कोश।

सुषमा—परम शोभा।

सुफलक-सुत—अक्रूर नाम का यादव।

कालिंदी कूल—यमुना का तट।

पृष्ठ १३२

श्रांति—थकावट।

नीप—कदंब।

भानुजा--सूर्य की बेटी, यमुना।

लावण्य--सुन्दरता।

पृष्ठ १३५

लवर--ज्वाला।

रेग--रेत।

ऊसर--बंजर जमीन।

उकठे--सूखे।

पृष्ठ १३६

कारवन--कोयला इत्यादि।

विभव--सम्पत्ति।

भगवान दीन

दीन जी के मतानुसार किसी कवि का कवित्व तब तक सफल नहीं होता, जब तक वह उसे वीरों की कीर्ति कीर्तन में नहीं लगा देता। चांद कवि, होमर, बाल्मीकि, व्यास, फिरदौसी आदि कवियों का नाम इसी लिये जगत-विख्यात है कि उन्हों ने वीरों के गुणों का गायन किया। दीन जी वीरों की अपेक्षा उन की माताओं का गुण-गान करना अधिक पसंद करते हैं।

पृष्ठ १३६

होमर--यूनान का अंधा कवि, जिस की दो पुस्तकें इलियड और उडीसी यूरुप में रामायण और महाभारत का सा सम्मान पाती हैं।

पथोरा--राजा पृथ्वीराज चौहान।

इन्दु--चन्द्रमा।

प्रभाकर--सूर्य।

कई हिन्दी कवियों की उपाधियां इसी प्रकार हैं।

रामचरित उपाध्याय

पण्डित जी की कविता का विषय रामायण से लिया गया है। बच्चा २ इस घटना से परिचित है। शक्ति-प्रहार से लक्ष्मण को मूर्छित देखकर राम का विलाप इस भांति से लिखा गया है कि पढ़ने वाला दो आंसू टपकाये बिना नहीं रह सकता।

पृष्ठ १४२

इन्द्रजित—मेघनाद।

सौमित्रि—सुमित्रा का पुत्र लक्ष्मण।

रण-वृत्त—रण का वृत्तान्त।

दशकंठ—रावण।

ठक हो गये—भौंचक्का हो गये।

पृष्ठ १४३

साकेत—अयोध्या।

अनुज—छोटा भाई।

पृष्ठ १४४

तिल-विमिश्रित नीर—मृत पुरुष का पिण्ड भराते समय दिया जाता है।

गिद्ध—जटायु।

विधि—दैव, प्रारब्ध।

अकिंचन—निर्धन।

विग्रह—झगड़ा।

पृष्ठ १४५

स्वर—स्वर्ग।

शमन—शान्ति।

कामता प्रसाद 'गुरु'

कवि ने सच कहा है कि यदि शिवाजी न आते तो हिन्दुओं का नाश निश्चित था। महाराष्ट्र-केसरी ने मुगलों

के हाथों से सारी जाति को बचा लिया। यदि संभाजी जैसा नीच इस वंश में उत्पन्न न होता तो आज सारे भारत में हिन्दुओं की यह दशा क्यों होती ?

पृष्ठ १४८

कुराजी--बुरे राज्यशासन वाले।

अग्रशोच--आगे की सोच, दूरंदर्शी!

पुनीत--पवित्र।

पृष्ठ १४६

अश्व--घोड़ा।

जूझना--लड़ मरना।

जमधर—एक प्रकार का हथियार

ऊबट —कठिन, ऊंचा नीचा।

पृष्ठ १५०

परालम्बन—पराधीनता।

सिसोदिया—गुहलोत राजपूत जिन की प्रतिष्ठा क्षत्रिय कुलों में सब से अधिक है। इन की प्राचीन राजधानी चितौड़ थी।

पृष्ठ १५१

उलटी है —फूटी है।

रामचन्द्र शुक्ल

कवि की प्रतिभा कितनी ऊंची जा पहुंचती है! निश्चय ही ऐसे सुन्दर और दिव्य स्थल पर कवि के हृदय में हर्ष और उन्माद का एक मधुर भार पड़ने लगता होगा।

महात्मा बुद्ध निर्जन वन में अनेक संकट सहकर तपस्या में मग्न हैं। न तन की सुध है, न संसार की। सांसारिक और आध्यात्मिक समस्याओं को सुलझाने के लिये

उन्हें कितना दुःख सहना पड़ता है। परन्तु, यह सब किस लिये? इस लिये कि मनुष्यों का कल्याण हो।

कविता जहां से कवियों को बुलाती है वह स्थान भी कितना दिव्य है! वाह! वाह!!

पृष्ठ १५३

तुङ्ग—ऊंचा।

नागमाला—पहाड़ों का सिलसिला।

ओक—स्थान।

पुरन्दर—इन्द्र।

पृष्ठ १५४

नीलाभ—नीलीसी।

मेंड—बांध।

दूब—एक घास है।

मधूक—महुए का पेड़।

शरपत्र—एक प्रकार का पौधा।

पृष्ठ १५५

कषाय—रंगे हुए।

गिलाय—गिलहरी।

मनुज—मनुष्य।

नीहार—बर्फ, सरदी।

पृष्ठ १५७

कलव-करंवित—टेसू के रस में मिली हुई।

कलाधर—चंद्रमा।

सरसी—रस-भरी।

कगरों—किनारे, मंडेर।

कास—एक पेड़ है।

खंजन—ममोला।

मैथिलीशरण गुप्त

यह कविता 'भारत भारती' से उद्धृत की गई है। इस में कवि ने भारत की शोचनीय दशा का वर्णन करके

भारतियों को देश के पुनरुद्धार के लिये उत्साह दिलाया है और हर प्रकार से उभारने का प्रयत्न किया है। भाषा ऐसी प्रबल है कि मृत शरीरों में भी नई आत्मा आ जाती है। नवयुवकों को इन बातों पर विचार करना चाहिए।

पृष्ठ १६०

रत्नाकर—समुद्र।

भीति—डर।

पाणि-ग्रहण—हाथ पकड़ना।

समरस्थली—रणक्षेत्र।

पृष्ठ १६१

वर्णैकता—१ वर्णों और जातियों का मिलाप।
२ अक्षरों की एकता।

अलीक—झूठा।

पृष्ठ १६२

अनल—आग।

धृत—पतित, परतन्त्र।

हृत—खोये गये।

ऊष्मा—गरमी।

वृष्टि—वर्षा।

पृष्ठ १६३

पुनरासीन—फिर बैठना।

चार फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष।

वियोगी हरि

वियोगी हरि की कविता के विषय में पहिले ही बताया जा चुका है कि वह सदा वीर-रस में होती है। इन दोहों में वीर पुरुषों के कर्तव्यों का खुले शब्दों में वर्णन है। पदों की भाषा भी ऐसी ही ओजस्विनी है।

पृष्ठ १६५

अवसान—अन्त, समाप्ति ।

रस-नाह—रसों का स्वामी ।

अहेरी—शिकारी ।

पृष्ठ १६६

ताग—तागा ।

धूत—पवित्र ।

निकेत—घर ।

पृष्ठ १६७

मौली—सिर ।

नीराजन—आरती ।

ओज—बल ।

पवि—वज्र ।

सूर्यकान्त त्रिपाठी

भारतीय विधवा के मनोभावों का चित्रण करने में निराला जी ने बहुत योग्यता दिखाई है। उस का जीवन क्या है, दुःखों, स्मृतियों और चिन्ताओं की लड़ी है। परमात्मा ही इन का निवारण कर सकता है।

'तुम और मैं' में कवि-प्रतिभा ने कई ढंग के घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किये हैं। सब का तात्पर्य एक ही है। अतुकान्त कविता के ये अनूठे और सुन्दर नमूने हैं।

पृष्ठ १६६

काल-ताण्डव—मृत्यु का नाच ।

नीरव—चुपचाप ।

व्यथा—पीड़ा ।

मधुकर—भौंरा ।

पृष्ठ १७०

पुलिन—रेतला किनारा ।

छोर—अंत ।

पल्लव—कोंपल ।

पृष्ठ १७१

सुरसरिता—गंगा ।

दिनकर—सूर्य ।

सरसिज—कमल ।

पृष्ठ १७२

रेणु—धूल ।

वेणु—वंसी ।

निशीथ—आधी रात ।

मधुमास—वसंत ।

मदन—काम देव ।

तड़ित्तूलिका—बिजली का बुरश।

नूपुर—पांव का भूषण ।

सुभद्राकुमारी चौहान

कुमारी जी की इन कविताओं में निराशा में आशा का भाव खूब हिचकोले खाता है । विश्वास भी कितना अटल है ।

भाषा तो बड़ी सरल है, परन्तु भाव बड़े ऊँचे और उत्कृष्ट हैं । सच्ची कविता इसे ही कहते हैं ।

पृष्ठ १७५

वाद्य—बाजा ।

स्फूर्ति—चमक ।

पृष्ठ १७६

माधुर्य—मधुरता, मिठास ।

पृष्ठ १७६

पुजापा—पूजा की सामग्री ।

महादेवी वर्मा

इस कविता में कवयित्री ने—खिले हुए फूल की क्या बहार थी और मुरझा जाने पर क्या अवस्था हो गई है, इस छोटे से विषय को कितना गम्भीर बना दिया है !

पृष्ठ १८१

मञ्जुल—सुन्दर ।

मधुप—भौंरा ।

उद्यान—बाग ।

पृष्ठ १८२

धरा—पृथ्वी ।

धाता—दौड़ता ।

सौरभ—सुगन्धि ।

फुटकर

पृष्ठ १८५

आत्माभिमान मिटाकर ही मनुष्य परम तत्व का ज्ञान प्राप्त कर सकता है ।

पिपलकि ह्वै—चींटी बन कर ।

पृष्ठ १८६

प्रभु सब के भीतर है; उसे ढूंढने के लिये वन वन भटकने की आवश्यकता नहीं । आत्म-ज्ञान से ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है ।

छाई—छाया ।

पृष्ठ १८७

एक मुसलमान नवाब कृष्ण पर ऐसा मोहित हुआ है कि सब कुछ भूल बैठा है । इन छन्दों में यह बात देखने योग्य है कि एक जन्म के मुसलमान पर हिन्दु सभ्यता का कितना गहरा रंग चढ़ा हुआ है ।

पाहन--पत्थर ।

तड़ाग—तालाब ।

कलधौत—सोना, चांदी ।

कृष्ण के लिए इतना प्रेम है कि गोकुल में निवास हो जाय तो सब कुछ त्याग कर सकते हैं ।

पैजनी पाजेब ।

पृष्ठ १८६

सविताऊ – सूर्य ।

शिशिर का दिन गरमी की रात

के समान वर्णन किया है ।

पूस--पौष का महीना ।

द्योस--दिन ।

सहसकर--सूर्य (सूर्य शीघ्र ही अस्त हो जाता है, दिन छोटे और रातें बड़ी हैं ।)

पृष्ठ १६१

लवपुर--लाहौर ।

केतु--प्रकाश ।

रियाजी--गणित विद्या ।

पृष्ठ १६२

ऊषा--प्रभात ।

अनिल--वायु

पृष्ठ १६३

तपजन्य--तप से पैदा हुआ हुआ (कष्ट) ।

संसृति--संसार ।

पृष्ठ १६४

कानन--वन ।

आभारी--कृतार्थ ।

वल्लरी--बेल ।

इति ।